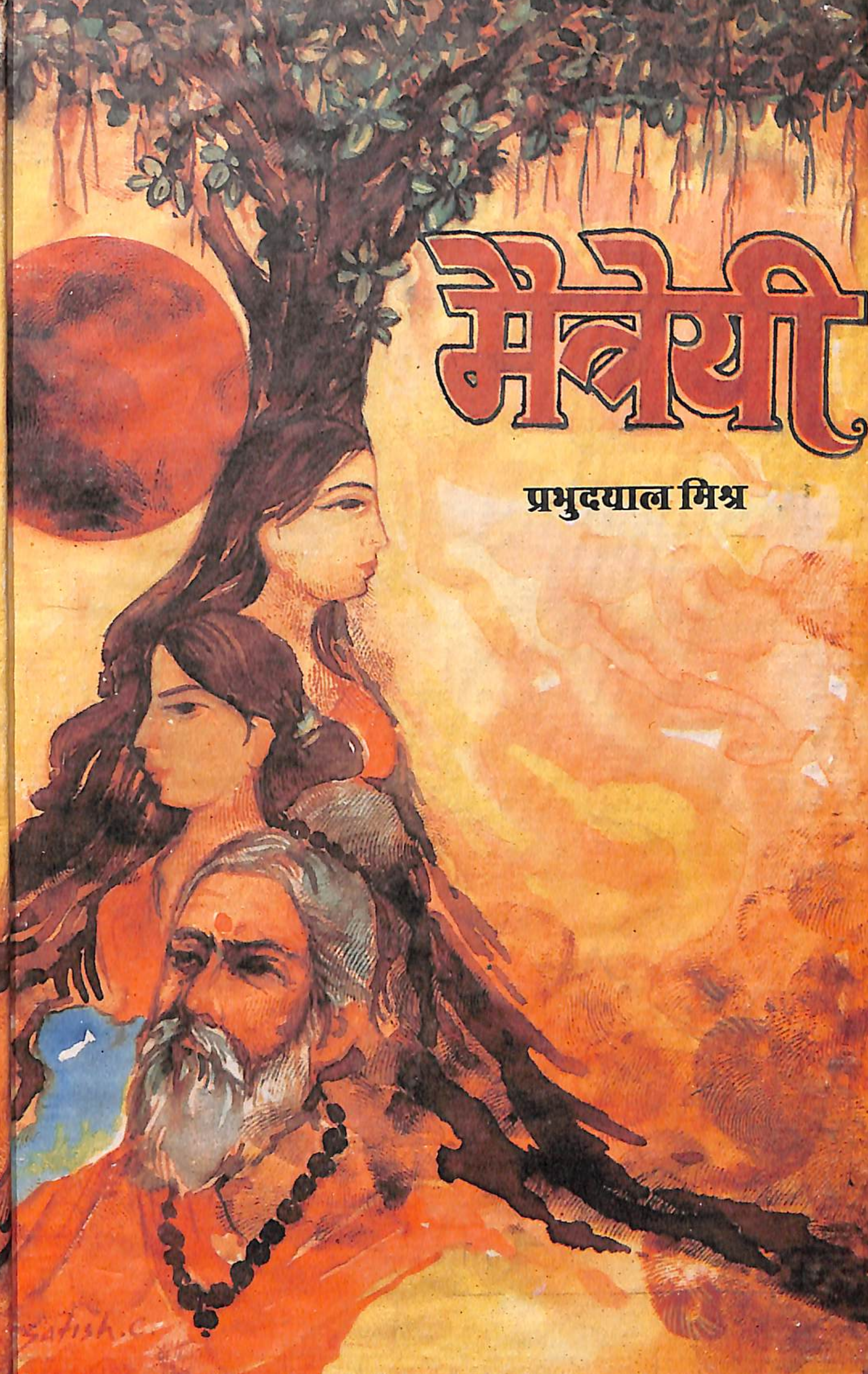
मैत्रेयी
प्रभुदयाल मिश्र

मैत्रेयी

(औपनिषदिक-उपन्यास)

प्रभुदयाल मिश्र

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

MAITREYI

(Novel based on Upanishad)

by

Prabhu Dayal Mishra

ISBN : 81-7124-232-4

द्वितीय संस्करण : २००१

मूल्य : एक सौ बीस रुपये

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी–२२१ ००१

फोन तथा फैक्स : (0542) 353741, 353082

E-mail : vvp@vsnl.com • E-mail : vvp@ndb.vsnl.net.in

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी–२२१ ००१

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासनानिशितं सन्धयीत
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।

(*मुंडकोपनिषद्* २, खं० २, मं० ३)

(हे सौम्य, उपनिषद् के धनुषरूपी महास्त्र पर उपासना के तीक्ष्ण बाण का सन्धान करके अपनी चेतना को उसके भाव से तदाकार करते हुए अक्षर ब्रह्म का लक्ष्य भेद कर।)

यह उपन्यास

उपनिषदों का शिल्प कथात्मक संवाद का है। इन कथाओं का ओर-छोर पाना प्रायः आसान नहीं है। पुराण और इतिहास के माध्यम से अटूट मिथक परम्परा का ताना-बाना बुनने वाली प्राचीन भारतीय मेधा उपनिषदों में कुछ सूत्र पकड़ाकर जैसे अदृश्य हो जाती है। मुझे लगा है कि यदि इन बिखरे हुए कथा-सूत्रों को पिरो दिया जाय तो जो इतिवृत्त बनता है वह कथा साहित्य की रोचक धरोहर बन सकता है।

छांदोग्योपनिषद् की पृष्ठभूमि में पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'अनामदास का पोथा' (अथ रैक्व आख्यान) संभवतः इसी भावभूमि में लिखा गया था। छांदोग्योपनिषद् के रहस्यपूर्ण ऋषि रैक्व प्रायः अपनी पीठ खुजलाते हुए एक बैलगाड़ी के नीचे पड़े रहते हैं, किन्तु उनसे यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए कि 'सबकुछ हवा है' महाराज जानश्रुति अपार संपत्ति और अपनी चन्द्रमुखी कन्या का भी दान कर देते हैं।

आत्म तत्त्व के अन्वीक्षण और ब्रह्मवार्ता में निमग्न वैदिक ऋषियों की विज्ञान यात्रा संवेदनाशून्य नहीं थी। जनक की ज्ञान सभा में वचक्नु की पुत्री गार्गी से याज्ञवल्क्य का शास्त्रार्थ मुझे 'याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये वभूवतुः' (याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं—बृहदारण्यकोपनिषद् ४/५/१) की आधार भूमि लगता रहा है। उपनिषद् के अनुसार इनके नाम कात्यायनी और मैत्रेयी थे। मुझे अपनी धारणा के समर्थन में डॉ० श्रीधर भास्कर वर्णेकर के भारतीय भाषा परिषद् कलकत्ता से प्रकाशित संस्कृत वाङ्मय कोष के प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४१९ में मत प्राप्त हुआ कि 'योगी याज्ञवल्क्य के संपादक पी०सी०दीवाणजी ने गार्गी को याज्ञवल्क्य की पत्नी कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में—याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये वभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च—कहा गया है। इस वाक्य में केवल दो पत्नियों का निर्देश होने से वाचक्नवी गार्गी का ही अपर नाम मैत्रेयी माना जाता है।'

प्राचीन राजाओं की तरह, प्राचीन ऋषियों के वंश भी पौराणिक साहित्य में उपलब्ध हैं, किन्तु जहाँ राजवंश राजाओं के कुलों का अनुसरण कर तैयार किये गए हैं, वहाँ ऋषियों के वंश प्रायः सर्वत्र शिष्य परंपरा के रूप में हैं। यथार्थ में इसे 'विद्यावंश' कहा जा सकता है। किन्तु उपनिषदों के ऋषियों के नाम और उनकी परंपरा को एक सूत्र में पिरोना अत्यधिक दुष्कर कार्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् के छठें अध्याय के पाँचवें ब्राह्मण में ऋषियों की एक वंशावलि भी दी

गई है, जिसमें शिष्य के नाम के आगे उसके गुरु के नाम का उल्लेख है। इन नामों में दिलचस्प बात यह है कि ये ऋषि के मूल नाम न होकर प्रायः उनके परंपरामूलक नाम हैं। इसका एक और रोचक तथ्य यह है कि ये सभी नाम प्रायः मातृपरक हैं।

इतिहास और वह भी वैदिक इतिहास की पुनर्रचना किसी मानवीय सामर्थ्य का विषय नहीं है। अतः इस दिशा में यदि किंचित् भी प्रयास संभव है, तो वह इस परंपरा के उस संवेदी स्वर की पहचान का हो सकता है, जो शाश्वत है और चिरनवीन भी।

इस कथानक की मैत्रेयी स्वयं से पूछ सकती है—उसे क्यों आवश्यक है आत्म साक्षात्कार के अनेक युगों के पश्चात् स्त्री-पुरुष की त्रिकोणीय परिधि में प्रस्तुत होना! और यदि वह एक अर्थ में अनजान रही तो अनेक नाम और रूपों में लगातार प्रकट भी तो थी! इसलिए उसे एक युग और काल की ही विशिष्ट पहचान क्यों आवश्यक है?

वह यह अच्छी तरह से जानती है कि इस प्रकार उसके सार्वजनिक हो जाने पर उसे स्वयं से इन दुरूह प्रश्नों को पूछना ही होगा। अब उसे अपने आपको शास्त्रार्थियों की सभा की विषय-वस्तु के रूप में भी प्रस्तुत करना होगा। और इसमें यदि वह व्यंग्य, विनोद और उपहास का भी पात्र बनती है, तो यह उसकी नियति है। आज जनक की ज्ञान-सभा में खुली हुई केशराशि, आवेगपूर्ण मुखमण्डल और गहन जीवनानुभव की बोझिल वाणी से शास्त्रार्थ को उद्यत मैत्रेयी पुनः एक चुनौती है, किसी याज्ञवल्क्य को ही नहीं बल्कि स्वयं और समाज को भी।

भोपाल
नव सम्वत्सर
(१८ मार्च, १९९९)

प्रभुदयाल मिश्र

मैत्रेयी

मधुकाण्ड

कात्यायनी

याज्ञवल्क्य

मैत्रेयी

सामश्रवा

जनक

आरण्यक

मधुकाण्ड—उत्तर

"......इस कथानक की मैत्रेयी स्वयं से पूछ सकती है—उसे क्यों आवश्यक है आत्म साक्षात्कार के अनेक युगों के पश्चात स्त्री–स्त्री और पुरुष की त्रिकोणीय परिधि में प्रस्तुत होना।.....उसे तो अब अपने आपको शास्त्रार्थ की विषय वस्तु के रूप में भी परोसना होगा। और इसमें यदि वह व्यंग्य, विनोद और उपहास का पात्र बनती है, तो क्या यह उसकी नियति है? आज जनक (महज एक पात्र।) की ज्ञान सभा में खुली हुई केश राशि, आवेगपूर्ण मुख मण्डल और गहन जीवनानुभव की बोझिल वाणी से शास्त्रार्थ को उद्यत मैत्रेयी पुनः एक चुनौती है, किसी याज्ञवल्क्य की नहीं, स्वयं और समाज की भी।"

मधुकाण्ड

'मैत्रेयी, ओ मैत्रेयी'। ऋषि याज्ञवल्क्य ने प्रातःकालीन सन्ध्या, तर्पणादि नित्य विधान से निवृत्त होकर पुकारा।

ऋषि की प्रथम पत्नी कात्यायनी उनके निकट ही उपस्थित थीं। उन्होंने अनुमान किया कि ऋषिवर को अग्निहोत्र के लिए समिधाओं की आवश्यकता उत्पन्न हुई है। वे तत्काल काष्ठादि के कोष से कुछ समिधायें लेकर उनके पास पहुँच गईं।

'भगवन्, लीजिए, आपकी परम प्रिया तो आज किसी गहन आध्यात्म चिन्तन में लगी हुई है। ब्राह्म मुहूर्त से मैं अनेक बार उसके पास होकर लौट आई हूँ, किन्तु उसकी समाधि टूटने का नाम ही नहीं ले रही है।'

'बैठो, कात्यायनी बैठो। मुझे तुम दोनों से ही एक महत्त्वपूर्ण बात करनी है। अरी मैत्रेयी........।'

'मैं आई ब्रह्मवादिन, अभी आई।' मैत्रेयी का दूरस्थ स्वर निकट होने लगा है।

'आपकी क्या सेवा करूँ देव?'

'यहाँ बैठो। तुम दोनों मेरे समक्ष बैठो और मेरी बात को बहुत धैर्यपूर्वक सुनो।'

ऋषि याज्ञवल्क्य गम्भीर हो चले थे। ऋषि-पत्नियाँ स्पष्ट देख रही थीं कि ऋषि की दृष्टि सामने बैठी उन नारी-मूर्तियों के पार बहुत दूर कहीं छिटकी हुई है। जैसे ऋषि चेतनतया वहाँ थे ही नहीं जहाँ उनकी भौतिक देह उपस्थित थी।

'भगवन्!' कात्यायनी ने चिन्ताकुल होकर कहा। 'मुझसे कोई अवज्ञा तो नहीं हुई है? कहीं मैत्रेयी को मुझसे कोई कष्ट तो नहीं पहुँचा है? क्या मैंने आपको किसी प्रकार रुष्ट कर दिया है, स्वामी?'

'नहीं, नहीं कात्यायनी, ऐसी कोई बात नहीं है। तुम स्त्रीधर्म, गार्हस्थिक कर्म और संसार साधन में परम निपुण हो। तुमसे व्यवहार में किसी त्रुटि का प्रश्न नहीं उठता।'

'वास्तव में निरंतर त्रुटि करते हुए भी मुझे दण्ड न देना आपने अपना स्वभाव बना लिया है, मुनिवर', मैत्रेयी बोल उठी। 'एक ओर तो मैं गृह-कार्य में देवी कात्यायनी की कोई सहायता नहीं करती हूँ और दूसरी ओर आपको आपके कर्म और उपासना से पृथक् कर बार-बार ज्ञान खण्ड में ले जाकर आपकी साधना की एकनिष्ठता में भी बाधा उत्पन्न करती हूँ।'

'देवियों, तुम दोनों ही अपनी-अपनी पृथक् पहचान में मुझे परम प्रिय हो। वास्तव में इससे ही तुम्हारे व्यक्तित्त्वों को वह विशिष्टता मिली है, जो तुम्हें एक-दूसरे की पूरक बनाती है। फिर एक-दूसरे की छिद्रान्वेषिता के स्थान पर तुम परस्पर अपनी ही त्रुटियों के निराकरण में लगी रहती हो। इससे तुममें कलह की कभी कोई स्थिति ही उत्पन्न नहीं होती। स्पष्ट तो यही है कि तुममें से कोई भी मेरे किसी असंतोष का कारण नहीं है।'

'देववर, तब' मैत्रेयी बोली, 'आज आप इतने गम्भीर क्यों हैं ? मुझे आश्चर्य हो रहा है कि आपने अग्निहोत्र भी अब तक नहीं किया है।'

'तुम्हें ज्ञात है मैत्रेयी, विदेह राजा जनक की सभा का वह प्रसंग जिसमें परम ज्ञानी राजा ने समस्त भूमण्डल के विद्याव्यसनियों को एकत्र कर स्वर्ण से मंडित श्रृंगों वाली एक सहस्र गायें ब्रह्मवेत्ता को दिए जाने की घोषणा की थी। उस सभा में उपस्थित अपूर्व विद्वत् मंण्डली में अश्वल, आर्त्तभाग, लाह्यायनि भुज्यु, चाक्रायण उषस्त, कहोल, आरुणि, उद्दालक और परम विदुषी के रूप में तुम स्वयं उपस्थित थीं। वास्तव में उस अपार गोधन को देखकर उस समय मुझे एक क्षण को राजा जनक की उस शर्त का स्मरण ही नहीं रहा। इस आश्रम से जाते हुए मुझे तब केवल कात्यायनी का अभावग्रस्त आँगन ही दिखाई दे रहा था। उस दिन इस देवी ने मेरे प्रात:कालीन अग्निहोत्र में अपने संग्रह का समस्त गोघृत समाप्त कर दिया था।'

मैत्रेयी, नहीं गार्गी, वाचक्नवी गार्गी, मेधावी, तार्किक, ब्रह्मविदुषी गार्गी। अगणित ब्रह्मवेत्ताओं से सुशोभित राजा जनक की सभा में अपनी वाग्विदग्धता और प्रखर तार्किकता से चमत्कृत कर देने वाली एक तेजस्विनी युवती गार्गी!

याज्ञवल्क्य को अपने अतीत का वह परम रोमांचक पल याद आ रहा है। उन्हें अभी अपना शास्त्रज्ञान पूरा किये हुए कुछ ही समय बीता था। अपने विद्याध्ययनकाल से लेकर अब तक उन्हें कोई ऐसा अपूर्व शास्त्रज्ञ और आत्मज्ञानी नहीं मिला था, जो ज्ञानवल में उनसे न्यून न ठहरा हो। किन्तु अब उन्हें कात्यायनी की गृहस्थी और अपने आश्रम को भी व्यवस्थित करना था। इसके लिए पर्याप्त गोधन और स्वर्ण का संचय आवश्यक था। ऐसे ही समय उन्हें राजा जनक की सभा का जब शास्त्रार्थ का निमंत्रण प्राप्त हुआ तो उन्होंने कात्यायनी को आश्वस्त किया था कि अब उसे गोधन और स्वर्ण सम्पदा की उपलब्धता के प्रति निश्चिंत हो जाना चाहिए। पृथ्वी लोक में तत्समय उन्हें आत्मज्ञान के क्षेत्र में कोई पराजित कर सकेगा, ऐसा उनके अनुमान में नहीं आया था।

किन्तु आज की गार्गी और उसके बाद की बनी यह मैत्रेयी भी निश्चित ही अपराजेय थी। गंगा की धवल धारा-सी उद्दाम वेग वाली वह शुभ्र बाला उन्हें उस समय कुछ अधिक ज्ञानोन्मत्त ही प्रतीत हो रही थी। उस रूपवासना में स्त्रीजनोचित लज्जा के स्थान पर उन्हें ज्ञान का गुमान ही तो दिखाई देता था।

तथापि अश्वल, आर्त्तभाग, लाह्यायनि भुज्यु, चाक्रायण उषस्त, आरुणि, उद्दालक और शांडिल्य आदि की उपस्थिति से सुशोभित इस विद्वत् परिषद् में गार्गी उन्हें चुनौती के रूप में प्रकट नहीं हो रही थी। किंचित् ध्यान से देखने पर उन्हें प्रतीत हुआ कि इस नव-यौवना ने मुश्किल से पच्चीस वर्ष की वय प्राप्त की होगी। उज्ज्वल पूर्ण-चन्द्र से खिले उसके निर्धूम मुखमण्डल के पीछे की खुली केशराशि उसके विराट् प्रभामण्डल का संकेत दे रही थी। एक अदभ्र चन्द्रकान्त मणि-सा देदीप्त उसका मस्तक उसके कैशोर्य-वैभव की पराकाष्ठा थी, जिस पर पीताभ त्रिपुण्ड उसे त्रिपुरारि शिव की प्राप्ति के लिए तपस्यारत पार्वती की तुलना प्रदान करता था।

जिस संस्कृत-सार संश्लिष्ट स्वर में गार्गी ने अपने प्रवेश के साथ ही तापस समूह को अभिवादन संप्रेषित किया, उससे याज्ञवल्क्य ने सहज ही यह अनुमान कर लिया कि इस सुकंठ साधिका ने अध्ययन, पारायण, व्याख्यान और अनुश्रवण का उत्तम अभ्यास किया है।

'आप कहाँ खो गये हैं, ऋषिवर?' मैत्रेयी ऋषि की अतीत यात्रा में साथ हो लेती है। 'विदेह राजा जनक की उस साधुसेवी सभा का अद्भुत लोमहर्षक दृश्य मुझे कदापि विस्मृत नहीं हो सकता। उस सभा में ही तो पहलीबार मैंने अनेक तपोनिष्ठ और वयोवृद्ध ऋषीश्वरों में एक स्वतेज तप्त तरुण तापस के रूप में आपको प्राप्त किया था। उस ज्ञान-सभा में पहुँचकर जब मैं सम्मान्य और तपोवृद्ध एक ऋषि समूह को अपना अभिवादन प्रस्तुत कर रही थी, उसी समय मैंने विद्युन्वेग से अपने आर-पार आपकी क्षणिक दृष्टि के वेग का अनुभव किया था। दूसरे ही क्षण मेरे निकटवर्ती एक महात्मा ने मुझे बताया था कि प्रतियोगी विद्वानों के समूह में सर्वाधिक युवा प्रतीत ऋषि याज्ञवल्क्य हैं। इसके भी पूर्व मैं आपकी कीर्ति अनेक बार अपने पिता वाचक्नव से सुन चुकी थी। अपने पिता के साथ अनेक स्थानों पर व्याख्यान, शास्त्रार्थ और साधु समागमों में जाते हुए कहीं मेरी यह प्रच्छन्न कामना भी डोल रही थी कि मुझे कभी ब्रह्म विषयक आपके विचार सुनने और समझने का अवसर मिलता है तो यह निश्चित ही मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य होगा।'

'अब तू अपनी प्रेम कहानी ही दुहराती रहेगी या स्वामी की इच्छा को जानने की कोशिश करेगी?' कात्यायनी बोल उठी।

'आर्योत्तम द्वारा मेरे पिता को दिये गये मुझे स्वीकार कर लेने के वचन के साथ ही मैंने जान लिया था कि इनकी आत्मोपलब्धि और ब्रह्म-ज्ञान के तेज के समक्ष मैं केवल एक छाया बनकर रह सकती हूँ। पश्चात् इतना बड़ा गुरुकुल, अनगिनत शिष्य, गायें, आश्रम-सम्पदा आदि की व्यवस्था करते हुए मुझे न तो अपने होने का कोई दूसरा ध्येय समझ आया है और न ही मैंने स्वामी की ब्रह्म-ज्ञान साधना में कभी बाधा भी उत्पन्न की है।'

'तुम्हारा कथन सत्य है कात्यायनी'। महर्षि ने कहा। 'तुम और मैत्रेयी वास्तव में, मेरी ज्ञान-गंगा के दो किनारे हो। अन्तर केवल इतना है कि तुम्हारा सुन्दर सुहावना तट जहाँ लोक-स्फूर्ति और शीतलता प्रदान करता है वहीं मैत्रेयी का किनारा परा की पारलौकिक बयार से सुगंधित है अन्यथा प्रकृति से अपूर्ण और अपनी अपार सीमाओं में जकड़े एक मनुष्य के लिए वर्णनातीत और अनुभव अगम्य ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि कैसे संभव है?'

'तो फिर मैं आपकी सेवा में परा की पारमार्थिक बयार को छोड़कर आश्रम-व्यवस्था के नित्य के कार्य समेटती हूँ'। कात्ययिनी ने निवेदन किया। साथ ही मैत्रेयी को निर्देशित किया—

'मैत्रेयी, महर्षि के आदेश-पालन में यदि तुझे कोई कठिनाई हो तो मुझे बुला लेना।'

मैत्रेयी मौन, गम्भीर। ऋषि कात्यायनी का शीघ्रता से प्रस्थान देख रहे थे।

❖

कात्यायनी

ऋषि कात्यायन की स्नेह पोषिता पुत्री कात्यायनी। अल्प वयस में ही माता के दुलार से वंचित इस बालिका को अपने पिता ने यद्यपि द्विगुणित स्नेह दिया है, किन्तु एक गुरुकुल की व्यवस्था के चलते उनकी पुत्री के गुरुभार स्कन्धों पर असमय ही आ गया है। यूँ ऋषि कात्यायन चाहते थे कि उनकी पुत्री अपने समय की प्रकाण्ड विदुषी बने तथा इसके लिए उन्होंने दूरस्थ कुछ आश्रम और गुरुकुलों से सम्पर्क भी किया था, किन्तु उनकी पत्नी के स्वर्गलोक सिधार जाने तथा कात्यायनी के आश्रम-व्यवस्था में प्रायः अपरिहार्य हो जाने के कारण उन्हें अपने इस विचार को बदल देना पड़ा।

कात्यायन को अपनी भार्या के देह-त्याग की घटना का पल-पल याद है। किस प्रकार उन्होंने तीन दिनों के तीव्र ज्वर की बेसुधावस्था में बार-बार कात्यायनी का नाम लिया, कैसे अपने निर्जीव होते दोनों हाथ उन्होंने कात्यायनी के स्कन्धों पर रखते हुए उन्हें धरती में लुढ़क जाने दिया और किस प्रकार उनकी कातर दृष्टि कात्यायनी का स्नेहलेप करती हुई उनके ऊपर उत्खचित हो गई, सब कुछ जैसे सजीव साथ है उनके।

सात वर्ष की अल्प वयस कात्यायनी ने जैसे कुछ ही दिनों में अपनी माँ की व्यतीत आयु के समस्त वर्ष अपने बौने व्यक्तित्व पर उड़ेल लिए थे। नियमित

विद्याध्ययन के लिए अब उसके पास न तो कोई अवसर ही था और न समय। उससे संबंधित कात्यायन की व्यक्त पीड़ा को भी जब उसने अपने अबोध नेत्रों में पी लिया तो उन्हें चुप ही रहना पड़ा।

वे सोचते थे और कात्यायनी जानती थी कि उसकी वय के छात्रों द्वारा सस्वर वेद-पाठ, विद्याध्ययन और योगाभ्यास तथा कर्मानुष्ठान के सान्निध्य का थोड़ा ही सही, उसे लाभ तो मिलेगा ही।

कात्यायन की पत्नी के स्वर्ग सिधारने के कुछ समय पश्चात् ही उनके आश्रम में सपत्नीक ऋषि वशिष्ठ और मुनि अत्रि पधारे। वशिष्ठ-पत्नी अरुन्धती और अत्रि की अर्द्धांगिनी अनुसूया ने कुछ दिन तक आश्रम में ही रहकर कात्यायनी को भरपूर स्नेह बाँटा, किन्तु अतिथि तो अतिथि ही होते हैं, आने में भी और जाने में भी। अत: दोनों महात्माओं की विदा का भी क्षण आ पहुँचा।

'आपकी पुत्री ने अपने कुशल आतिथ्य से हमें अत्यन्त उपकृत कर दिया है कात्यायन जी,' ऋषि वशिष्ठ ने विदा लेते हुए कहा।

'पुत्री, तुम्हारी निष्काम सेवा और स्त्रीधर्म पालन के अद्‌भुत सामर्थ्य को देखते हुए मैं तुम्हें श्रेष्ठ ब्रह्मविद् ज्ञानी ऋषि के द्वारा पाणिग्रहण का आशीर्वाद देती हूँ,' अत्रि पत्नी अनुसूया ने अपना दक्षिण कर कात्यायनी के शीश पर रखते हुए कहा।

पश्चात् ऋषीश्वरों को मार्ग में कुछ दूर छोड़ने गए कात्यायन को ऋषि वशिष्ठ ने स्पष्ट किया—

'ब्रह्म-ज्ञानोपलब्धि की पराकाष्ठा के रूप में अखिल भूमण्डल में एक अद्‌भुत आध्यात्मिक क्रान्ति होने जा रही है। संयोग से वर्तमान युग में कुरु, पांचाल, मिथिला, काशी और अयोध्या आदि महानगरियों में ऐसे ज्ञान जिज्ञासु महिपाल भी हैं, जो इस दिशा में आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार कर रहे हैं। सामान्यत: हमारे आश्रम वर्तमान में वेदों के बहिरंग जैसे कर्मकाण्ड, धनुर्वेद, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि साधनों तक ही अपनी शिक्षा-दीक्षा सीमित किए हुए हैं। आखिर अपनी किशोर-युवावस्था के पच्चीस वर्ष तक जब एक राजकुमार केवल वाजपेय, अश्वमेध अथवा श्रौत या स्मार्त कर्मकाण्ड ही सीखता है या एक ब्राह्मण बालक व्याकरण की शुद्धि या शुक-प्रवीणता ही अपनी सिद्धि मान लेता है तो हजार-हजार सामान्य नर-नारी को प्रकट ईश्वरीय बोध से कौन अवगत करायेगा। मुझे लगता है कि अब यह समय सन्निकट ही है।'

'ब्रह्मज्ञ वशिष्ठ का यह कथन सर्वत्र सत्य है ऋषि कात्यायन। मुझे प्रसन्नता है कि साध्वी अनुसूया ने आपकी पुत्री को आशीर्वाद देकर महर्षि वशिष्ठ की परादृष्टि के पात्रों के लिए एक भूमिका तैयार कर दी है।' अत्रि ने कहा।

कात्यायन बोले—'आप परम तेजस्वी ब्रह्मज्ञ ऋषिओं का आतिथेय बन मैं धन्य हुआ हूँ, मेरा आश्रम पवित्र हुआ है तथा मेरी परम प्रिय पुत्री कृतार्थ हुई है। आपका

कथन सर्वथा सत्य और आपकी पारदर्शी दृष्टि का सत्य सभी प्रकार के संदेहों से परे है। वास्तव में इस मातृहीना पुत्री के लिए योग्य वर की चिन्ता मुझे अभी से होने लगी थी।'

ऋषि पत्नियाँ—अरुन्धती और अनुसूया कात्यायनी के बाल मस्तिष्क पर अनूठी छाप छोड़ गई थीं। इनकी अपने पतियों की अनुगामिता में उसने जैसे अपना जीवन ध्येय देख लिया था। शिक्षा, ज्ञान और तप में अपने पतियों से किसी भी प्रकार से न्यून न होते हुए भी वे अपने पति की इच्छा को सर्वोपरि मानती थीं। दूसरी ओर इनके पति भी इनके प्रति निश्चित आदर-भाव रखते थे। इनमें से जब भी किसी ऋषि ने अपनी पत्नी को सम्बोधित किया तो उसे ऐसा लगा कि वह अपनी अर्द्धांगिनी को नहीं बल्कि समग्र नारी जाति की एक प्रतिनिधि को ही सम्बोधित कर रहे हैं।

एक बार अत्रि मुनि के विश्राम को चले जाने पर कात्यायनी को अनुसूया से चर्चा हेतु एकान्त-सा मिला। वह कुछ पूछना चाहती थी, किन्तु उसे लग रहा था कि छोटे मुँह बड़ी बात वह कैसे करे।

परम मनस्विनी अनुसूया को कात्यायनी के बाल मस्तिष्क की दुविधा पढ़ने में देर नहीं लगी। उन्होंने बहुत दुलारपूर्वक कात्यायनी को अपने निकट आसन खींचकर बिठाया और कहा—

'बेटी, तू कुछ कहना चाह रही है न? निस्संकोच कह। क्या कभी अपनी माता से भी कोई संकोच करता है?'

'पूज्य माता, बहुत समय से आपके सम्बन्ध में एक प्रश्न मेरे मन में घूम रहा था। पूछना तो इसे मैं अपनी माता से ही चाहती थी, किन्तु उसके साथ भी लगभग ऐसा ही संकोच काम कर रहा था। माँ डाट देती। कहती, 'बड़ी बूढ़ी स्त्रियों जैसे प्रश्न क्यों सदा तेरे मन में उठते हैं?' शायद कुछ समय बाद इसे पूछने की मैं हिम्मत जुटा पाती, किन्तु वह अवसर तो आना ही नहीं था।'

'कात्यायनी बेटी, मानवीय व्यवहार की यह बहुत बड़ी विसंगति ही है कि जहाँ हमारी आयु हमारे व्यवहार की सीमा रेखाएँ बाँध देती है वहीं हमारा मन-मस्तिष्क इन सीमाओं को कदाचित् हर क्षण तोड़ना चाहता है। हमारा यह शरीर प्रत्येक अवस्था में हमारी एक स्थूल और अनुषंगिक पहचान ही तो कराता है। तुम संभवतः यह समझती हो कि एक शिशु या बालक के प्रकृत मन और मस्तिष्क की सूक्ष्म तरंगों के सहारे उसके विगत व्यक्तित्व और चेतना की तत्कालीन विकास अवस्था को अच्छी तरह से समझा जा सकता है। किन्तु ऐसी चेष्टायें प्रायः नहीं देखी जातीं। बड़े लोग बालक को अपने ही साँचे में ढालने को व्यग्र रहते हैं जैसे कि एक प्रतिदर्श के अभाव में उनके विशेष व्यक्तित्व का ह्रास सृष्टि विकास की महान् सांस्कृतिक क्षति हो जायगी।......... हाँ, बेटी, कह तू क्या कहना चाहती थी?'

'अम्ब, आपके सतीत्व की महिमा जग-विख्यात है। मैंने सुना है कि एक बार आपकी परीक्षा को पहुँचे ब्रह्मा, विष्णु और शिव को आपने अबोध शिशुओं के रूप में स्तनपान कराया था।'

'सुन पुत्री, इस कथानक को मूल रूप से सुन। मनुष्य कहानियाँ गढ़ने में बहुत कुशल है। किसी भी कथानक का एक पात्र वस्तुतः अपने आप में हमारे जैसा ही सामान्य होता है। एक कहानी बनने के बाद उसमें जो वैशिष्ट्य दिखाई देता है वह प्रायः कहानीकार द्वारा आरोपित कर दिया गया होता है। वास्तव में प्रत्येक वक्ता, कथाकार या कलाधर्मी अपनी कृति में मूल तो केवल एक साधन के रूप में ही प्रयोग में ला रहा है। उसका वास्तविक ध्येय तो इसके माध्यम से अपने व्यक्तित्व का प्रक्षेपण है और ज्यादा सही अर्थों में अपनी आकांक्षाओं, आदर्शों और विचारों का छायांकन है। इस तरह से बना व्यक्तित्व या कथानक यद्यपि वायवीय होता है, किन्तु हमारी अपनी कल्पनाओं का भी तो सतरंगी बाँकपन है। इस तरह हम वह भी स्वीकार कर लेते हैं जिसकी सच्चाई में साधारणतः हम विश्वास नहीं कर सकते। सोच लेते हैं शायद ऐसा हो, होता हो। और नहीं तो ऐसा हो सकने की संभावना को तो कैसे भी निरस्त नहीं किया जा सकता।'

अनुसूया ने कुछ क्षण ठहर कर पुनः कहा—'मैं यह भी नहीं कह रही हूँ कि जो कुछ तुमने सुना है, वह एकदम निराधार है। वस्तुतः हमारी प्रकृति किसी भी छोटी या बड़ी घटना को अपने भाव, भाषा या अभिव्यक्ति के सहारे एक विशेष स्वरूप देने की होती है। इसका छोटा या बड़ा, तुच्छ या महत्त्वपूर्ण होना भी एक सापेक्षिकता ही है।'

थोड़े विराम के बाद पुनः महासती ने कहा—'अब यदि तुम आख्यान को मेरी भाषा में सुनती हो अथवा मेरी दृष्टि से इसे देखती हो तो इसमें उल्लेखनीय तुम्हें कुछ भी नहीं मिलेगा। स्त्री का सतीत्व पति-सेवा का कलाभिनय अथवा पति के दुर्गुणों और दुष्प्रवृत्तियों का प्रतिरक्षण नहीं है। यह प्रश्न तुम्हारे मन में उठ सकता है कि समान क्षमताओं और संभावनाओं से युक्त स्त्री और पुरुष में एक प्रधान और दूसरा गौण कैसे हो सकता है? इनमें स्वामी और परपोषिता का भी भाव कहाँ स्थान रखता है? अतः एक स्त्री द्वारा एक पुरुष के प्रति किया गया सम्पूर्ण समर्पण अथवा अपने व्यक्तित्व का हनन सतीत्व नहीं है। सतीत्व स्त्री की एक सकारात्मक शक्ति है। यह एक स्त्री द्वारा अपने प्रकृत व्यक्तित्व में किया गया एक आरोहण है।

'मेरे कथन का बेटी यह अर्थ न निकालना कि मैं स्त्री और पुरुष में किसी प्रतियोगी भाव का समर्थन कर रही हूँ। वास्तव में यदि वे एक-दूसरे को परास्त करने में ही अपनी ऊर्जा लगा देते हैं तो इससे किसी का भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

'वास्तविक सतीत्व एक स्त्री का आदर्श या मर्यादा नहीं, उसकी पहचान है। यह उसमें स्थित सार्वकालिक सत् की उसकी सामान्य स्थिति ही है। अतः लोक में बहुख्यात मेरा महासतीत्व मेरी कोई चेष्टा या कुशलता नहीं है। और वास्तविक अर्थ में इस ख्याति में महर्षि अत्रि का भी समान योग है।

'बेटी, सतीत्व की यह लम्बी परिभाषा मैंने तुम्हें इसलिए बताई है कि मैं तुम्हारे भावी जीवन में इसकी स्पष्ट आवश्यकता देख रही हूँ।

'गार्हस्थिक जीवन में पति और पत्नी ने यदि अपना सही स्थान समझ लिया तो इनके समन्वित और अलग-अलग विकास की दिशायें अवरुद्ध नहीं होतीं। तुम पूछ सकती हो कि क्या एक पुरुष या एक स्त्री ही पारस्परिक और गार्हस्थिक पूर्णता के लिए यथेष्ट और आवश्यक है? मैं इस प्रश्न को तुम्हारी बुद्धि की प्रौढ़ता और उपयुक्तता देखकर ही उठा रही हूँ। बेटी, हमारे व्यवहार में बन्धन केवल आसक्ति है, मोह है, अभिमान है और एकाधिकार तो कहीं और भी बड़ा बन्धन है। प्रश्न उठता है कि एक स्त्री अपने पति की दूसरी पत्नी से ही क्यों डाह करती है, उसकी माँ, बहिन, बेटी अथवा विश्व की अन्य स्त्रियों से क्यों नहीं? कारण साफ है। यह उसका शुद्ध, निष्कल प्रेम नहीं है। यह सौतिया डाह उसमें अपने पति के प्रति एकाधिकार के भाव को लेकर ही उत्पन्न हुआ है।

'तुम ऐसा न समझना कि मैं बहुपति या बहुपत्नीवाद का पक्ष ले रही हूँ। मेरा आशय है कि सत्व या सतीत्व तो सर्वथा पूर्वापेक्षा मुक्त ही होता है।'

'अंब अनुसूया', कात्यायनी ने ऋषि-पत्नी की वैचारिक गम्भीरता को विराम-सा लगाते हुए कहा, 'आपके द्वारा की गई सतीत्व की इस व्याख्या में मेरा प्रश्न तो खो-सा गया है।'

'तुम्हारा प्रश्न चूँकि शून्य था अतः उसमें कितने ही शून्य जोड़ या घटाकर उसका जो उत्तर निकलता है, उसका तुम अनुमान अच्छी तरह से कर सकती हो। इस प्रकार की लोकरंजक कथाएँ कुछ दूरी तक ही हमारा साथ दे सकती हैं। मुझे तो तीन पराम्बाओं में किये गये प्रतिस्पर्धा और वह भी सामान्य स्त्री सुलभ भावों के आरोप से बड़ी पीड़ा होती है। जगजननि पार्वती, महालक्ष्मी और महासरस्वती मेरी भी तो माताएँ हैं, भला वे मुझसे डाह क्यों करने लगीं?'

'रही बात त्रिदेवों द्वारा मेरे स्तन-रस पान की तो इसमें आश्चर्य क्या है? त्रैलोकेश्वर जब अवतार लेते हैं तो उनकी माँ होगी ही, वे शिशु लीलाएँ करेंगे ही।...... अच्छा बेटी, बहुत रात्रि हो गई, लगभग तीसरा प्रहर लग गया है। थोड़ी ही देर में महर्षि अपनी योगनिद्रा से उठ बैठेंगे। मुझे उनके नैमित्तिक नित्य कार्यों की अब व्यवस्था कर देनी चाहिए।'

अनुसूया के आश्रम में महर्षि अत्रि के विश्रामस्थल की ओर चले जाने के बाद कात्यायनी भी सो नहीं सकी। वह सोच रही थी कि महासती अनुसूया ने उस अल्पवयस बालिका से स्त्रीधर्म के सम्बन्ध में इतनी लम्बी चर्चा क्यों की? क्या उसके जीवन में आगे इसकी कोई स्पष्ट उपयोगिता है? महासती तो अपने सतीत्व की शक्ति से त्रिकालदर्शिनी हैं।

• • •

विवाह योग्य मातृहीना कात्यायनी ऋषि कात्यायन के लिए बड़ी समस्या है। आश्रम, गुरुपद और ऋषित्व अपने स्थान पर सब ठीक हैं, किन्तु पुत्री के लिए योग्य वर तो प्रत्येक पिता के लिए ऐसा आवश्यक प्रबंध है जिसका समुचित निर्वाह उसे इहलोक और परलोक का आनन्द देता है। ऋषि कात्यायन सोचते थे कि यदि उनकी सामर्थ्य में होता तो वे राजा रैवत की तरह अपनी पुत्री को लेकर ब्रह्मा जी के पास ही चले जाते और जिस प्रकार ब्रह्मा ने रैवत की पुत्री रेवती के लिए नियत वर (बलराम जी को) उपलब्ध कराया था, वे भी कात्यायनी के लिए निश्चित वर को प्रदान करने का अनुनय करते।

बहुत हो गया। धीर, गम्भीर किशोरी पिता के आश्रम की व्यवस्था का वयस्क उत्तरदायित्व उठा रही थी। आश्रमवासी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कात्यायनी के पास ही जाते थे। गोशाला, भोजनशाला, अतिथिगृह आदि सभी के कार्य इतने फैले हुए थे कि यौवन के भार ने उसे कब आक्रान्त कर दिया है, कात्यायनी को स्वयं भी पता न रहा। हाँ, अब ऋषि की दृष्टि बोझिलता उसे अपने आपके प्रति अधिक सचेत अवश्य करने लगी थी।

कात्यायनी सोचती—विचित्र है नारी जीवन। एक घर, एक परिवार, एक ममत्व-भरे वातावरण से सहसा कैसे कट जाना होता है उसे। एक कातर वर्तमान से आशंकित भविष्य की यह पीढ़ी उसी की नियति क्यों है? फिर इन देवतुल्य ऋषि पिता को वह किसके भरोसे छोड़ेगी?

सुना है, स्त्री का सुख और परिपूर्णता उसका पुरुष-संग है। किन्तु जो पुरुष बिना स्त्री के हैं तथा जो स्त्रियाँ पुरुषविहीन हैं, उन्हें देखकर, समझकर ऐसा तो नहीं लगता कि वे किसी अपूर्णता में हैं। और इतना जो जीवन मैंने जिया है वह मैं अपूर्ण, अतृप्त और असार्थक कैसे मान लूँ?

पुरुष-संग यदि किसी पूर्व जन्म के अटूट तथा विशृंखलित सम्बन्ध का निर्वाह भी है, तो क्या भ्राता, पिता अन्य संबंधी या मित्र उसकी पूर्ति नहीं कर सकते हैं?

मित्र! कौन से मित्र? क्या यहाँ पर पुरुष-संगता न होगी?

कात्यायनी में एक अजीब-सी सिहरन, हिलोर उठी जो उसे पैरों के अँगूठों से लेकर चोटी तक झकझोर गई।

क्या मैं प्रतीक्षा कर रही हूँ किसी मित्र की? कब तक..................

कात्यायनी को अनुसूया का स्मरण आया। अरुन्धती का भी। एक अर्थ में विवाहित स्त्रियाँ सौभाग्यशाली तो हैं ही कि उन्हें जिसकी प्रतीक्षा है उसका उन्हें अच्छी तरह से पता है। प्रतीक्षित पुरुष भी इसे जानते हैं और समाज को इसकी चौकसी भी नहीं करनी है। पर उसे ही क्यों इस दुविधा, अशान्ति और बेवशी में जीना है?

'कात्यायनी? कात्यायनी.............'

ओह, पिताजी की आवाज है। दो बार बुलाए जाने पर भी उनका उत्तर नहीं दे पायी हूँ। फिर एक विराम हो गया है, अतः शीघ्र उनके सामने ही पहुँच जाना उचित है।

कात्यायनी ऋषि के सन्मुख खड़ी हो गई।

'बेटी, क्या कर रही थी? अच्छा, प्रातःकालिक ईश्वराराधन कर रही होगी। मैंने संभवतः तुम्हें असमय में ही उठा दिया है।'

कात्यायनी चुप है।

'शायद ध्यान कर रही होगी। मैं जानता हूँ कि वेदान्त के शुष्क ज्ञान की तुलना में तुम्हें योग, और योग विभूतियों के अध्यवसाय में अधिक रुचि है।'

कात्यायनी ध्यान ही तो कर रही थी। किसका?

'हाँ, मैं तुम्हें यह बताने आया था कि आज आश्रम में कुछ विशेष अतिथि आ रहे हैं। उनमें कुछ महागृहस्थ और श्रोत्रिय हैं। मेरी इच्छा है कि इन पुण्य अतिथियों का अच्छा सत्कार हो। आश्रम में किसी वस्तु की कमी तो नहीं है, बेटी?'

'मध्याह्न तक समय होने की स्थिति में शताधिक आचार्य अतिथियों का भोजन करा सकती हूँ। आश्रम में किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। फिर आपने तो मुझे योग-विभूति युक्त भी बना दिया है। मेरी समझ में ऐसी सामर्थ्य का अतिथि-सेवा से बढ़कर और क्या उपयोग हो सकता है?'

भोजनोपरान्त अपराह्न की चर्चा। सत्र में ऋषि कात्यायन और उनकी पुत्री कात्यायनी भी उपस्थित है। अतिथियों में उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुप का पुत्र सत्ययज्ञ, मल्लवि के पुत्र का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुदिल आदि उपस्थित हैं। इन सभी महागृहस्थ श्रोत्रियों के साथ आए उनके सेवक आदि पृथक् से अपनी दीर्घयात्रा सम्बन्धी सामग्री साधन में लगे हुए हैं।

'आज इस साधनहीन आश्रम में आपका आतिथ्य कर मैं अपनी पुत्री सहित बहुत प्रसन्न हूँ। यदि यह बताने में कोई हानि नहीं है तो कृपया बतायें कि आप कहाँ से पधार रहे हैं और आपका गन्तव्य क्या है?'

'ऋषिवर', उपमन्यु पुत्र प्राचीनशाल ने कहा, 'हम सभी ज्ञान पिपासुओं के यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई है कि कोई ज्ञाता पुरुष हमें यह बताये कि हमारी आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है?'

'क्या आपको ऐसे तत्त्ववेत्ता की प्राप्ति हुई?' कात्यायनी ने पूछा।

'मैं वही वृत्तान्त सुनाने जा रहा हूँ', ऋषि बोले। 'हम पाँचों गृहस्थ श्रोत्रिय एकत्र होकर सर्वप्रथम अरुण के पुत्र उद्दालक के पास पहुँचे थे। उन्होंने हमें परामर्श दिया कि केकयकुमार अश्वपति ही इस वैश्वानर संज्ञक आत्मा को अच्छी तरह जानते हैं। अतः वे महामति हमें स्वतः उनके पास लेकर गए।

'केकयकुमार अश्वमति एकसाथ हम छः ज्ञान पिपासुओं को देखकर विस्मित हुए। उन्होंने साश्चर्य कहा—'मेरे राज्य में न तो कोई चोर है तथा न अदाता, मद्यप, अनहिताग्नि, अविद्वान् और परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री तो आई ही कहाँ से ? हे पूज्यवर। मैं भी यज्ञ करने वाला हूँ, मैं एक-एक ऋत्विक को जितना धन दूँगा उतना ही आपको दूँगा, अतः आप अपनी कामना व्यक्त करें।

'किन्तु हम लोग धन-कामना से तो वहाँ गए नहीं थे। हमने उनसे अनुरोध किया कि इस समय आप वैश्वानर आत्मा को जानते हैं, आप हमारे प्रति उसी का वर्णन कीजिए। दूसरे दिन पूर्वाह्न जब हम जिज्ञासु की मुद्रा में समिधायें लेकर राजा के पास गए तब राजा ने हमें उस विद्या का उपदेश किया।'

'यह प्रसंग बड़ा रोचक है। मुझे केकयराज अश्वपति से आपके संवाद का विषय सुनने की बड़ी उत्कंठा है।' कात्यायन ने अनुरोध किया।

आगे सत्ययज्ञ ने कहा—'ऋषीश्वर, जब अश्वपति ने हममें से प्रत्येक से पूछा कि हम किस आत्मा की उपासना करते हैं, तो प्राचीनशाल ने द्युलोक, मैंने आदित्य, इन्द्रद्युम्न ने वायु, जन ने आकाश, बुदिल ने जल और उद्दालक ने पृथ्वी की उपासना की बात कही। इस पर अश्वपति ने हमें बताया कि वैश्वानर आत्मा का मस्तिष्क द्युलोक, चक्षु सूर्य, प्राण वायु देह का मध्य भाग, आकाश वस्ति, जल और पृथ्वी दोनों चरण हैं।'

'यह तो एक प्रकार से परम पुरुष की विराट् रूप में उपासना प्रतीत होती है।' कात्यायनी ने कहा—'क्या उन राजर्षि ने इस उपासना का कोई गार्हस्थिक विधान भी बताया ?'

'निश्चय ही बताया, देवि।' सत्ययज्ञ ने कहा। 'राजा अश्वपति ने भोजन की अग्निहोत्रत्व सिद्धि के लिए हमें इसी सिद्धान्त के आधार पर 'प्राणाय स्वाहा' से पहली आहुति, 'व्यानाय स्वाहा' से दूसरी आहुति, 'अपानाय स्वाहा' से तीसरी आहुति, 'समानाय स्वाहा' से चौथी आहुति तथा 'उदानाय स्वाहा' से पाँचवीं आहुति का विधान बताया जिसके द्वारा हवन करने वाले पुरुष का समस्त लोक, सारे भूत और संपूर्ण आत्माओं में हवन हो जाता है।'

ऋषि कात्यायन और कात्यायनी इस संवाद से अत्यन्त तृप्त हुए। कुछ विराम के बाद उन्होंने कहा—'ऋषि उद्दालक आपके साथ वहाँ नहीं पधारे । यह आश्चर्यजनक है कि उन्होंने आपके प्रश्नों का स्वतः समर्थ होते हुए भी उत्तर क्यों नहीं दिया ?'

अब बुदिल की बारी थी। उन्होंने कात्यायन को कहा—'ऋषि उद्दालक जानते थे कि हम महागृहस्थ श्रोत्रियों को उचित उपदेश राजा अश्वपति जैसे महागृहस्थ श्रोत्रिय ही दे सकते थे। इसलिए उन्होंने अपने परम पवित्र और तपः-प्रदीप्त आश्रम से स्वतः हमारा मार्ग प्रशस्त किया था। हमने स्वयं देखा कि महर्षि उद्दालक के विशाल आश्रम में

कई सहस्त्र विद्यार्थी, मुनिकुमार और ब्रह्मोपासक साधना और विद्याध्ययन कर रहे हैं। हमारे ज्ञान का वास्तविक अनुसंधान तो उन ऋषीश्वर के दर्शन से ही संभव हुआ है।'

कुछ समय तक सभा में विराम हुआ। पश्चात् उक्त पाँचों महाभाग अपने सेवकों और संवाहकों सहित आश्रम से विदा लेकर चले गये।

कात्यायन को सहसा लगा—क्यों न मैं ऋषि उद्दालक के आश्रम जाकर उनके विद्यार्थी या शिष्य वर्ग में से कात्यायनी के लिए किसी योग्य वर की खोज करूँ? कात्यायनी भी यदि प्रस्तुत है तो इसे भी भ्रमण के प्रयोजन से साथ ले जा सकता हूँ। इससे इसके भारयुक्त जीवन में कुछ परिवर्तन भी आयेगा। उन्होंने कात्यायनी को कुछ टटोलते हुए कहा—

'बेटी, ऋषि उद्दालक और उनके परम प्रतिष्ठित गुरुकुल को देखने की मेरी भी उत्कंठा बहुत पुरानी है। वर्तमान में यहाँ कोई विशेष कार्य तो शेष है नहीं। अतः इस यात्रा में यदि तुम भी मेरे साथ रहती हो, तो कुछ समय के इस परिवर्तन से तुम्हें भी विशेष प्रसन्नता होगी।'

कात्यायनी ने कुछ उत्सुकता प्रदर्शित नहीं की, किन्तु प्रस्ताव को अस्वीकार भी नहीं किया। कात्यायन इस दीर्घ पग-यात्रा हेतु आवश्यक व्यवस्था पर विचार करने लगे।

● ● ●

ऋषि कात्यायन को महर्षि उद्दालक के आश्रम की ओर प्रयाण के सात दिन हो चुके हैं। दिनभर चलते हुए वे रात्रिकाल में विश्राम कर प्रातः फिर अपनी यात्रा आरंभ कर देते हैं। ऋषि को चिन्ता है कि कात्यायनी कहीं बहुत तो नहीं थक गई है। संध्या-काल में विश्राम के पूर्व कात्यायनी अपने पिता, स्वयं तथा साथ चल रहे दोनों शिष्यों के लिए भोजन पकाती है। प्रातःकाल ऋषि के ब्रह्म मुहूर्त में उठते ही वह प्रस्थान पूर्व आहार की व्यवस्था करती है। इतने वनाच्छादित, कंकरीले और जल तथा कीचड़ सिक्त मार्ग में चलते हुए उसने कहीं भी तो विश्राम का अनुरोध नहीं किया है।

कात्यायनी जानती है कि उसके पिता ने अनेक ऋषियों और ब्रह्म ज्ञानियों से सत्संग किया है तथा कई वर्षों तक स्वयं ज्ञान के प्रकाश के लिए महत्त्वपूर्ण गुरुकुल का संचालन किया है। अतः अब यह उनकी जिज्ञासा मात्र ही नहीं है कि वे ऋषि उद्दालक के दर्शनार्थ इतनी लम्बी यात्रा कर रहे हैं तथा मार्ग की अनेक कठिनाइयों के बाद उसे भी अपने साथ ले चलने की उत्सुकता अक्षुण्ण रखे हुए हैं। वह जानती है कि महर्षि उद्दालक (जिन्हें ऋषि ने यदा-कदा गौतम के रूप में भी सम्बोधित किया) उसके पिता के लगभग समवयस्क हैं। इनके पिता अरुण के प्रति उनका प्रायः गुरुभाव था। आज की उनकी यह उत्सुक यात्रा कुछ प्रयोजनपूर्ण ही लगती है। बहुत संभव है ऋषि के गुरुकुल में उन्हें किसी ऐसे छात्र या तरुण तपस्वी की उपस्थिति का ज्ञान हुआ

हो जिससे मेरे विवाह का प्रस्ताव करना चाहते हों। यह भी हो सकता है कि यदि पूर्व से कोई तरुण उनकी दृष्टि में नहीं भी है तो ऐसी संभावना ही उनके मन में विद्यमान हो। अन्यथा उनकी अब इस वय में मात्र ज्ञानसुधा की तृप्ति के लिए इतनी लम्बी यात्रा का प्रसंग समझ पाना कठिन ही है।

'कात्यायनी, तुम सोच रही होगी, भारतवर्ष के अनेकानेक ऋषियों, महात्माओं और तपस्वियों के सान्निध्य के पश्चात् ज्ञान का वह कौन-सा क्षेत्र है, जो मैं ऋषि उद्दालक के गुरुकुल में खोज करने निकला हूँ?'

कात्यायनी को लगा कि ऋषि ने संभवत: उसकी भावधारा को पकड़ लिया है। किन्तु उसे ऋषि के विचारों को कोई निश्चित दिशा देने के लिए शब्द नहीं मिले।

'कात्यायनी, मुझे आज इसी प्रकार की बहुत पूर्व की एक अन्य यात्रा का स्मरण हो रहा है। उस समय मैं युवा था तथा मैंने अपना अध्ययन समाप्त ही किया था। मेरे कुछ सहपाठी और जिज्ञासु मित्र थे जिनमें भरद्वाज के पुत्र सुकेश, शिविकुमार, सत्यकाम, गर्गगोत्र में उत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेश निवासी आश्वलायन और विदर्भदेशीय भार्गव उल्लेखनीय हैं। हम सभी लोग वेदाभ्यासी और ब्रह्मनिष्ठ थे। एक बार हम छहों लोग ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा से बाहर निकले। हमने सुना था कि पिप्पलाद ऋषि इस विषय को विशेष रूप से जानते हैं। अत: हम लोग जिज्ञासु के वेश में हाथ में समिधा लेकर महर्षि पिप्पलाद के पास गए।'

कात्यायन ने पुत्री की ओर इस दृष्टि से देखा कि वह इस प्रसंग को रुचिपूर्वक सुन रही है अथवा नहीं। कात्यायनी की दृष्टि गंभीर थी। वह ऋषि के विद्याव्यसन, साधुसेवा और उनकी पारमार्थिक प्रवृत्ति से अवगत थी। अपने पिता के इस पारमार्थिक यात्रावृत्त में उसकी रुचि स्वभावत: थी।

'हमारी जिज्ञासा को देखकर महर्षि पिप्पलाद ने हमसे कहा—तुम लोग तपस्वी हो, तुमने ब्रह्मचर्य के पालनपूर्वक सांगोपांग वेद पढ़े हैं। तथापि मेरे आश्रम में रहकर पुन: एक वर्ष तक श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तपश्चर्या करो। उसके बाद तुम लोग जो चाहो, मुझसे प्रश्न करना। यदि तुम्हारे पूछे हुए विषय का मुझे ज्ञान होगा तो निस्सन्देह तुम्हें सब बातें भलीभाँति समझाकर बतलाऊँगा।

'महर्षि की आज्ञानुसार हमने एक वर्ष तक त्यागमय जीवन बिताया। उसके बाद उनके समक्ष विधिवत् उपस्थित होकर सर्वप्रथम मैंने उनसे यह प्रश्न पूछा—

'भगवन्! जिससे यह सम्पूर्ण चराचर जीव नाना रूपों में उत्पन्न होता है, जो इनका सुनिश्चित परमकारण है, वह कौन है?' कात्यायनी ने ध्यान दिया, ऋषि उसकी ओर देखकर इस प्रश्न से उसके मस्तक पर खिंची रेखा को पढ़ना चाहते हैं। उसने भी अनेक बार सोचा है, सृष्टि के नाना रूप, जड़ और चेतन, स्त्री और पुरुष आदि सृष्टा के किस हेतु के परिचायक हैं? क्या पूर्ण एक न होकर दो ही होते हैं अथवा अपूर्ण दो मिलकर पूर्ण एक बनाते हैं?

'महर्षि पिप्पलाद ने कहा—प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से प्रजापति ने तप किया तथा उसने सोम और सूर्य के रूप में धनात्मक और ऋणात्मक दो तत्वों को उत्पन्न किया। इसमें उनका संकल्प यह था कि ये दोनों तत्त्व मिलकर मेरी नाना रूपात्मक सृष्टि की रचना करेंगे। संवत्सर, माह और अन्न को ही प्रजापति की संज्ञा देते हए महर्षि पिप्पलाद ने कहा—जो कोई निश्चयपूर्वक प्रजापति व्रत का अनुष्ठान करते हैं, वे इस द्विधात्मक सृष्टि का विस्तार करते हैं।'

ऋषि मौन हो गए थे। कात्यायनी भी मौन थी। दोनों ने ही देखा, सूर्य पश्चिम को पीताभ कर रहे हैं। उनकी उस दिन की यात्रा के पड़ाव का समय आ चुका था।

● ● ●

गंगा के ऊँचे समतल विशाल पाट पर बना ऋषि उद्दालक का गुरुकुल आश्रम एक सुरम्य आरण्यक है। अर्द्ध चन्द्राकार इन्द्रधनुषी द्वार पर बड़े अक्षरों में लिखा है, 'गौतम-ज्ञान-पीठ।' प्रवेश द्वार पर दो स्वयंसेवी छात्र खड़े हुए हैं। वे आगन्तुकों की ओर प्रणत हुए। इनमें से एक छात्र ने निवेदन किया—

'महर्षि गौतम के इस सारस्वत लोक में आप अतिथियों का स्वागत है। मान्यवर, मैं सर्वप्रथम आपको अतिथिशाला ले चलता हूँ, ताकि आपके विश्राम के अनन्तर आपके परिचय को ज्ञात कर मैं महर्षि जी तक उसकी सूचना प्रेषित कर सकूँ।'

'ब्रह्मचारिन', कात्यायन ने कहा। 'मैं कात्यायन और यह मेरी पुत्री कात्यायनी है। मैं सुदूर दक्षिण पूर्व प्रदेश से महर्षि उद्दालक के दर्शन करने आया हूँ। साथ ही इस लोकश्रुत ज्ञानपीठ को देखने की भी मेरी जिज्ञासा थी।'

'ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी वय और ज्ञान गरिमा में आप निश्चित ही महर्षि गौतम का आदि परिचय-'उद्दालक' जानते हैं। महर्षि जी आपसे मिलकर अत्यन्त आनन्दित होंगे। कृपया विश्रामस्थली की ओर शीघ्र पधारें।'

आश्रम की अतिथि-सत्कार शाला के जन संकुल होने के बाद भी इसकी अपार नीरवता ने अतिथियों को शीघ्र ही परम संतुष्ट कर दिया। उन्होंने अतिथिशाला के विद्यार्थी स्वयंसेवक से जानना चाहा कि उन्हें महर्षि के दर्शन कहाँ सुलभ हो सकते हैं।

'सूर्यास्त अब निकट ही है। विद्यार्थी समूह सन्ध्या और अग्निहोत्रादि के बाद महर्षि के दर्शनार्थ एकत्र होता है। इस अवसर पर महर्षि जी विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हैं। यदि आप भी वहाँ चलने को प्रस्तुत हैं, तो अन्य अतिथियों के मध्य आपके आसन की भी व्यवस्था हो जायेगी।'

'हम प्रस्तुत ही नहीं, समुत्सुक भी हैं। कृपया हमें वहाँ ले चलें।' कात्यायन ने कहा। श्वेतवसन, श्वेत केशमाला और शुभ्र आसन पर बैठे ऋषि गौतम शुक्लपक्ष की पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह उस सभा-प्रांगण को आलोकित कर रहे थे।

एकादश विद्यार्थियों के एक समूह ने इस प्रकार सामूहिक वेदपाठ आरंभ किया—

'ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्या मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु।'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(हे परमब्रह्म परमात्मन्, सम्पूर्ण अंग, वाक्, प्राण, नेत्र, कान और सब इन्द्रियाँ तथा शक्ति परिपुष्ट हो। यह जो सर्वरूप उपनिषद् प्रतिपादित ब्रह्म है, मैं इस ब्रह्म को अस्वीकार न करूँ और ब्रह्म मेरा परित्याग न करे—उसके साथ मेरा अटूट सम्बन्ध हो, उपनिषदों में प्रतिपादित जो धर्म समूह हैं, वे सारे धर्म उपनिषदों के एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मा में निरन्तर लगे हुए मुझ साधक में सदा प्रकाशित रहें। मुझमें नित्य निरन्तर बने रहें। हे परमात्मन्, त्रिविध तापों की निवृत्ति हो।)

ध्यानस्थ महर्षि ने धीरे-धीरे अपने नेत्र खोले। दोनों भुजाओं को स्वस्तिवाचक मुद्रा में ऊपर उठाया। पश्चात् अपना सम्बोधन आरंम्भ किया—

'मान्य अतिथियो, देवियो, गुरुकुल के आचार्यवर और प्रिय छात्रो!'

'भारत के दृष्टा ऋषियों और आचार्यों द्वारा वेदों के अक्षय ज्ञान सागर को उपनिषदों के जिन सरस सरोवरों में प्रवाहित किया गया है, उनकी महत्ता से आप भली-भाँति परिचित हैं। परम सत्य स्वरूप परमब्रह्म के अनुसंधान में आपके द्वारा व्यक्त सत्संकल्प इस ज्ञानपीठ और इस सभामंडप को अर्थवत्ता प्रदान करता है।

'वास्तव में व्यावहारिक आत्मज्ञान किसी ज्ञान-पीठ या वानप्रस्थ संन्यासी का ही एकाधिकार नहीं है। गुरुकुल में सुदीर्घकाल तक भी विद्याध्ययन करते हुए यदि एक विद्यार्थी में ज्ञान के प्रकाश की निरभिमानता उत्पन्न नहीं होती तो वह समालोच्य ही है। साथ ही साथ अवसर उपस्थित होने पर एक तपस्वी, संन्यासी और वानप्रस्थ को भी गृहस्थ की शरण में चला जाना सर्वथा उचित ही है।

'इस संबंध में मैं एक रोचक संस्मरण सुनाना चाहता हूँ। मेरा पुत्र श्वेतकेतु चौबीस वर्ष का होने पर सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर अपने को बड़ा बुद्धिमान और व्याख्यान करने वाला मानते हुए जब अनम्रभाव से घर लौटा तब मैंने उससे पूछा—

'सौम्य, तू जो ऐसा महामना, पाण्डित्य का अभिमानी और अविनीत है तो तूने क्या अपने गुरु से वह ज्ञान प्राप्त कर लिया है जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है?

'श्वेतकेतु को मैंने यह ज्ञान सिद्धान्त रूप से अनेकशः बताया किन्तु इसके सुस्पष्ट न होने पर मैंने प्रायोगिक तौर पर उसे निकट के ही वट के वृक्ष से एक फल

लाने को कहा। फल लाकर श्वेतकेतु ने मेरे कहने पर उसे फोड़ा। उसमें से कुछ अणु जैसे दाने निकले। इन दानों में से भी एक दाने को तोड़ने के लिए मैंने उससे कहा। मैंने श्वेतकेतु से पूछा—

'इसमें अब क्या दिखता है?' 'कुछ नहीं भगवन्।'

'हे सौम्य! वट बीज की जिस अणिमा को तू नहीं देखता, उस अणिमा का ही तो इतना बड़ा वट वृक्ष खड़ा है। यह जो अणिमा है इसी प्रकार से ही वह सब है। वही सत्य है, वही आत्मा है और श्वेतकेतु वही तू है।

'इसी बात को पुनः एक और उदाहरण द्वारा मैंने उसे समझाया। मैंने श्वेतकेतु को दूसरे दिन कुछ नमक जल में डालकर लाने को कहा। उसके उपस्थित होने पर मैंने उससे उस नमक को अलग करने को कहा किन्तु उसमें उसे प्रयास करने पर कहीं नहीं पाया। तब मैंने उससे कहा—इस जल का आचमन करो। उसने बताया कि जल खारा है। मैंने इस जल का नीचे और मध्य से भी उससे आचमन कराया तथा उसने इसे यथावत खारा बताया। तब मैंने उसे बताया—

'वह सत् निश्चय ही यहीं विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं है, परन्तु यह निश्चित ही यहाँ विद्यमान है। यह जो अणिमा है, सब तद्रूप ही है। वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतु वही तू है।

'अब मैं उस मूल विषय पर आता हूँ जिसकी भूमिका में मैंने श्वेतकेतु से अपने संवाद का उल्लेख किया है। ज्ञान निस्सीम है। अतः कोई भी ज्ञानपिपासु वेदान्त में स्थित होकर सर्वज्ञता की घोषणा नहीं कर सकता। और यह भी मननीय है कि ज्ञान पर किसी वर्ण, किसी आश्रम अथवा किसी व्यवस्था का एकाधिकार नहीं है।

'एक बार, श्वेतकेतु पाञ्चालों की सभा में भी पहुँचा। वहाँ उसकी जीवल के पुत्र प्रवाहण से वार्त्ता हुई। प्रवाहण ने उससे पूछा—'क्या तुम्हें तुम्हारे पिता ने सम्पूर्ण शिक्षा दे दी है? इस पर श्वेतकेतु ने 'हाँ' कहा।'

'क्या तुझे मालूम है कि इस लोक से जाने पर प्रजा कहाँ जाती है?' प्रवाहण ने पूछा। श्वेतकेतु ने कहा—'नहीं'। 'देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गों का पारस्परिक वियोगस्थान तुझे मालूम है?' श्वेतकेतु ने कहा—'नहीं'।

'तुझे मालूम है कि यह पितृलोक मरता क्यों नहीं है?' प्रवाहण ने पुनः पूछा। श्वेतकेतु ने तब फिर 'नहीं' में उत्तर दिया।

'क्या तुझे मालूम है कि पाँचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर आप (जल, सोम, घृत, रस आदि) शब्द पुरुष वाच्य होकर बोलने लगता है?' प्रवाहण के इस अंतिम प्रश्न का उत्तर भी श्वेतकेतु ने 'न' में ही दिया।

'इस पर श्वेतकेतु ने आकर मुझे उलाहना दिया कि मैंने उसे इन प्रश्नों के उत्तर क्यों नहीं बताए? इन प्रश्नों के उत्तर ज्ञात न होने के यथार्थ को मैंने तत्काल स्वीकार कर स्वयं भी प्रवाहण के पास शिष्य भाव से जाना योग्य समझा।

'यहाँ मैं आज विशेष रूप से प्रवाहण द्वारा दिये गये चतुर्थ प्रश्न के उत्तर का ही उल्लेख कर रहा हूँ। क्योंकि जहाँ यह एक अन्वीक्षणीय वैज्ञानिक सत्य है वहीं मैं इसका प्रयोजन भी समझ रहा हूँ।

'सर्वप्रथम प्रवाहण ने मुझे द्युलोक की अग्नि के रूप में उपासना का उल्लेख करते हुए बताया कि यह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है, आदित्य उसका समिध है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, चन्द्रमा अंगार है और नक्षत्र चिंगारियाँ हैं। इस द्युलोक रूप अग्नि में देवगण श्रद्धा का हवन करते हैं। इस आहुति से सोमराजा की उत्पत्ति होती है।

'पुन: पर्जन्य की अग्नि के रूप में उपासना बताते हुए प्रवाहण ने मुझसे कहा कि पर्जन्य अग्नि का वायु समिध, बादल धूम, विद्युत ज्वाला, वज्र अंगार तथा गर्जन विस्फुलिंग है। इस अग्नि में देवगण द्वारा राजा सोम का हवन करने से वर्षा होती है।

'पृथ्वी की अग्नि के रूप में उपासना समझाते हुए उन राजर्षि ने मुझे बताया कि पृथ्वी अग्नि में संवत्सर समिध, आकाश, धूम, रात्रि, ज्वाला, दिशायें, अंगारे तथा अवन्तर दिशाएँ विस्फुलिंग हैं। इस अग्नि में देवगण वर्षा का होम करते हैं जिससे अन्न उत्पन्न होता है।

'पश्चात् प्रवाहण ने पुरुष एवं स्त्री की भी अग्नि रूप में उपासना बताई जिससे गर्भ उत्पन्न होता है। अन्तत: पाँचवीं आहुति से पुरुष की उत्पत्ति का रहस्य बताते हुए उन महामना ने मुझे बताया—'इस प्रकार पाँचवीं आहुति दिये जाने पर जो पर पुरुष शब्दवाची हो जाते हैं वह जरायु से आवृत हुआ गर्भ नौ माह माता की कुक्षि के भीतर ही शयन कर उत्पन्न होता है।'

'सान्ध्यकालिक अंधकार सभामण्डप के चारों ओर खड़ा होकर प्रवेश की अनुमति की प्रतीक्षा में था। ऋषि आरुणि उद्दालक ने अपने सम्बोधन के अन्त में जब स्वस्तिवाचन किया तो उसे उपस्थित शिष्य जन समुदाय ने सस्वर दुहराया। सभा विसर्जित हुई। ब्रह्मचारी वर्ग पंक्तिबद्ध होकर स्थान छोड़ने लगे। एक स्वयंसेवक ब्रह्मचारी ऋषि कात्यायन के पास आया। कात्यायन ऋषि उद्दालक से अपनी चिर-प्रतीक्षित भेंट से बहुत प्रसन्न हो रहे थे।

'साक्षात् भगवान् अरुण की वंश और शिष्य परम्परा के परमाचार्य आपको समग्र सृष्टि का प्रयोजन विदित है।' कात्यायन ने ऋषिवर के सामने प्रस्तुत होने पर कहा—'इस तरह मुझे आपको अपना अभिप्राय प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। अत: मेरी प्रार्थना है कि इस समय हमारे लिए जो विधेय हो कृपया उसका उपदेश करें।'

'विराट् ब्रह्म की रहस्य सृष्टि निखिल ब्रह्माण्ड की लय और ताल की समरसता का ज्ञान समग्र मानव जाति का विधेय है,' महर्षि ने कहना आरम्भ किया। 'किन्तु इस चेष्टा को ज्ञान, अन्वीक्षण या तप-साधना कहना भी उतना सारयुक्त नहीं है। लय और ताल अपनी व्यापकता में आपको मंत्र मुग्ध ही करेंगे।

'भगवान् अरुण की इस अपौरुषेय सनातन ज्ञान परंपरा में मेरे पूर्व भी अनेक आरुणी आचार्य रह चुके हैं। इस परंपरा के निर्वाह और उत्तम शिष्य समुदायरूपी ज्ञान-दीपों के दिग् दिगंत में प्रसार से मुझे परम संतोष होता है। यह आप भी समझते हैं कि सभी वर्ण-व्यवस्था और आश्रमों से परे की यह मूल वैदिक परंपरा सर्वथा आग्रहमुक्त है। हम जानते हैं कि हमारे ब्रह्मचारी-शिष्य अपनी शिक्षा पूर्ण करने के उपरांत स्वयं ही यह आसान निर्णय ले सकेंगे कि उनके लिए प्रकृत-पथ क्या है। इनमें से ऐसे ज्वलंत उदाहरण विद्यमान हैं, जिनमें प्रतिभावान शिष्यों ने आचार्य के असंतुष्ट होने पर ज्ञान के मूल तक का साक्षात्कार किया है।

'इस अवसर पर मुझे वर्तमान युग के परम प्रतिभावान दीक्षान्त शिक्षा संपन्न शिष्य याज्ञवल्क्य का विशेष स्मरण आता है। आपको संभवतः विदित होगा कि उन्होंने भगवान् सूर्य की आराधना कर उन्हें इतना प्रसन्न कर लिया था कि अरुण-देव ने अश्व रूप में प्रत्यक्ष होकर उन्हें यजुर्वेद के उन मंत्रों का उपदेश किया जो अब तक किसी को भी प्राप्त नहीं थे। इसके बाद याज्ञवल्क्य जी ने इन मंत्रों से उसकी पन्द्रह शाखाओं की रचना की जो कि वाजसनेय शाखा के नाम से प्रसिद्ध है।'

'क्या याज्ञवल्क्य जी के भी आचार्य उनसे असंतुष्ट हुए थे?' सहसा कात्यायनी ने पूछा। प्रश्न पूछने के पश्चात् उसे स्वयं लगा कि क्या उसके प्रश्न का कोई औचित्य है? किन्तु अब तो वह उसे पूछ ही चुकी थी अतः दुहरे संकोच में पड़ने से और भी लाभ नहीं था।

'बेटी, भगवान् वेदव्यास ने वेद-मंत्रों के विभिन्न प्रकरणों के अनुसार उनसे ऋग्, यजुः, साम और अथर्व आदि संहितायें बनाईं। इनमें से यजुः संहिता का अध्ययन उन्होंने वैशंपायन को कराया। वैशंपायन के कुछ शिष्यों ने अपने गुरु के ब्रह्महत्या-जनित पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। याज्ञवल्क्य भी वैशंपायन के शिष्य रहे हैं। उन्होंने अपने गुरु से निवेदन किया कि उनका अनुष्ठान व्रती शिष्यवर्ग तो बहुत थोड़ी शक्ति रखता है। अतः वे उनके लिए कठिन तपस्या करने को तत्पर हैं। इस पर असंतुष्ट होकर वैशंपायन ने याज्ञवल्क्य को आदेश दिया कि वे उनसे प्राप्त शिक्षा को वापस करें। याज्ञवल्क्य अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुए उनकी यजुर्वेद की शिक्षा का वमन कर वहाँ से चले आए। इस बिखरे हुए ज्ञान को बटोरने के लिए अन्य मुनि इतने लालायित हुए कि उन्होंने तीतर बन कर इसे ग्रहण कर लिया। यजुर्वेद की इस शाखा को ही तैत्तरीय नाम से जाना जाता है।

'उधर याज्ञवल्क्य जी ने उन श्रुतियों को प्राप्त करने का संकल्प किया जो उनके गुरु के पास भी नहीं थीं। इसके लिए उन्होंने हमारे आदि आचार्य भगवान् सूर्य का उपस्थान किया और उनसे ऐसे यजुर्वेद की शिक्षा दिये जाने का अनुरोध किया जो अब तक किसी को न मिला हो। भगवान् भास्कर ने कृपापूर्वक निश्चय ही महामनस्वी

याज्ञवल्क्य को यजुर्वेद की उन दुर्लभ श्रुतियों को प्रदान किया जिन्हें इस नववयस तपस्वी ने वाजसनेय संहिता के नाम से संकलित किया है।'

ऋषि आरुणि उद्दालक का एक तेजस्वी शिष्य ऋषि के सम्मुख मुद्रा में खड़ा था। आचार्य ने संकेत समझ लिया। कुछ और भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति साक्षात्कार की प्रतीक्षा में थे। कात्यायन और कात्यायनी ने समय लिया कि उनके साक्षात्कार भवन से पृथक् होने का समय आ चुका है।

आचार्य उद्दालक के गुरुकुल की अतिथिशाला में ऋषि कात्यायन और कात्यायनी का विश्राम उनकी चिन्तनधाराओं में डूबतिर रहा था। कात्यायन सोच रहे थे कि आचार्यवर ने अपने दीक्षासंपन्न शिष्य याज्ञवल्क्य का बार-बार बहुत सम्मानपूर्वक नाम लिया है। सचमुच ही ऐसे गुरु और शिष्य दोनों ही धन्यता प्राप्त कहे जाने चाहिए। किन्तु यह मेरे प्रश्न का उत्तर कहाँ हुआ? मैंने तो मन ही मन अपनी पुत्री के लिए योग्य वर की कामना की थी और उन्होंने.......... ओह.......... मुझसे समझने में कितनी त्रुटि हुई? और संभवतः यह त्रुटि लगातार हुई जा रही है।

नहीं पूज्य आचार्यवर, अब मुझे आपका संकेत मिल गया है। मुझे याज्ञवल्क्य की ही अपनी पुत्री के वर रूप में प्रतीक्षा है..........

और कात्यायनी.......... पिताजी को सब समय बस एक ही चिन्ता है— कात्यायनी के लिए योग्य वर, एक परम ज्ञानी पति। निश्चित ही आचार्य उद्दालक को अपने तपोबल से उसे जानने में एक क्षण भी नहीं लगा होगा। और जब प्रत्यक्षतः मैं वहाँ तात के साथ स्वयं उपस्थित थी तो इस समस्या को समझने में उन्हें वैसे भी कोई कठिनाई नहीं थी।

..........इसीलिए मुनिश्रेष्ठ ने प्रकारान्तर से उनके दीक्षान्त प्रस्थित शिष्य याज्ञवल्क्य का विशेष रूप से स्मरण किया।.......... सच ही याज्ञवल्क्य को कोई परम सिद्ध तापस होना चाहिए। जिन्होंने अपनी विधिवत् शिक्षा आचार्यवर उद्दालक के आश्रम में प्राप्त की हो तथा यजुर्वेद संहिता वैशंपायन सहित भगवान् भास्कर से प्रत्यक्ष प्राप्त की हो, उनकी बौद्धिक क्षमता को कैसे मापा जा सकता है?

..........संभव है, मेरे पिता को यह संदर्भ प्रीतिकर लगा हो। संभव है वे इस दिशा में कुछ सचेष्ट हों। अच्छा ही तो है.......... क्या पता, मैं उनकी ही अब तक प्रतीक्षा करती रही होऊँ।

और वह मेरी भी तो प्रतीक्षा कर रहे होंगे.......... सच.......... शायद..........

❖

याज्ञवल्क्य

'गौतम-ज्ञान-गुरुकुल' के आज के दीक्षान्त समारोह की अपनी विशेषता थी। पन्द्रह वर्षों की गहन तपश्चर्या और साधना के पश्चात् एकादश ज्ञान-दीप्त ऋषि-सुतों और राजपुत्रों के जिस समूह को अलंकृत कर आज विदा दी जा रही थी उनकी कीर्ति-किरणें पहले ही दिशा-प्रदिशाओं में बिखर चुकी थीं। न केवल सम्पूर्ण आर्यावर्त अपितु सुदूर पश्चिम और आसमुद्र दक्षिण के दूरस्थ दुर्गम ज्ञान-केन्द्रों की अनेकानेक प्रतियोगितापूर्ण गोष्ठियों और शास्त्रार्थ में इन्होंने अपने गुरुकुल की कीर्ति-कौमुदी विस्तारित की थी। इनकां ज्ञान शास्त्राध्ययन के पार निर्भ्रान्त जिस परा-मानस का संस्पर्श करता था उससे प्रतीत होता था कि गुरु के आत्मबल और अपनी श्रद्धा के अपूर्व संचय ने इनकी ज्ञान-साधना को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाया है।

आज के इस समारोह के मुख्य अतिथि मिथिला के विदेहराज जनक थे। गुरुकुल के विद्यार्थियों को राजा जनक के ज्ञान-वैराग्य युक्त संसार-साधन की विशेषता भलीभाँति विदित थी। एक राजा की कठोर वास्तविकताओं और आसक्तिपरायण जीवन को क्रीड़ा और विराग की भूमिका में निभाने का जनक से बढ़कर आदर्श नहीं था। कठोर कर्मों का संसारी जीवन बिताते हुए भी परम आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर लेने का जनक से बढ़कर उदाहरण गुरुकुल के आचार्य भी नहीं खोज पाते थे।

'कर्मणैव हि सांसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'

सभी एकादश स्नातक शिष्य संवर्तक, श्वेतकेतु, अजातशत्रु, निदाध, वामदेव, हारीतक, याज्ञवल्क्य, प्रवाहण, प्राचीनशाल, सत्यज्ञ और इन्द्रद्युम्न मंच के निकट विशेष आसनों पर आप्तकाम मुद्रा में बैठे हुए थे। शताधिक कनिष्ठ विद्यार्थी वर्ग उनके पीछे पंक्तिबद्ध शान्तिपूर्वक बैठा हुआ था। सभी आचार्यपाद उद्दालक और अतिथिवर राजर्षि जनक की प्रतीक्षा में थे। परम कौतूहल और जिज्ञासा की इस नीरवता में चिड़ियों की आकस्मिक चहक रहस्य तरंग उठा देती थी।

छात्रों के मध्य से बृहस्पति और देवराज इन्द्र की-सी आभा बिखेरते हुए आचार्य और अतिथि मंचस्थ मुख्य आसनों पर आकर बैठे। एक छात्र समूह ने वैदिक पाठ आरम्भ किया—

'ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितत्ता मा विरावीर्म एधि।
वेदस्य म आणीस्थःश्रुतं मे मा प्रहासीः।
अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि।
सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु,
अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।'
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(ॐ । मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो। हे स्वयं प्रकाश आत्मा! तुम मेरे सन्मुख प्रकट होओ। हे वाणी और मन! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास से ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ। मैं ऋत् भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।)

आचार्य उद्दालक ने अपना सम्बोधन इस प्रकार प्रारम्भ किया—

'राजराजेश्वर मिथिलापति वीतरागीनृप जनक, गुरुकुल के सहयोगी आचार्यगण, और छात्र वर्ग! मुझे आज अत्यधिक प्रसन्नता है कि मेरे गुरुकुल के स्नातक उपाधि प्राप्त छात्रों के इस गरिमापूर्ण दीक्षान्त समारोह में ज्ञान, कर्म और वैराग्य के परमादर्श विदेहराज जनक सदेह उपस्थित हैं। हमारे इस छात्र समुदाय में ऋषि और राजकुल भूषण दोनों ही विद्यमान हैं। मेरी दृष्टि में इनमें से प्रत्येक के लिए उनके शास्त्र ज्ञान और व्यवहार का आदर्श इस महान् व्यक्तित्व से बढ़कर नहीं हो सकता।

'और हे विदेहराज! आपके राज्य की सीमाओं में स्थित होकर भी आपकी राजनीति से स्वायत्त यह गुरुकुल आपकी धर्मवृत्ति और सदाशयता के प्रति निश्चित ही ऋणी है। आपको विदित है कि पन्द्रह वर्षों की अनवरुद्ध कठोर साधना और तपश्चर्या के फलस्वरूप सुयोग्य और सुलक्षण विद्यार्थियों को यहाँ से स्नातक उपाधि दी जाती है। यद्यपि यह उपाधि-वितरण समारोह एक औपचारिकता है, किन्तु इसकी पृष्ठभूमि में इन छात्रों की शिक्षा, अध्यवसाय और योग्यता की अनेक कठिन परीक्षायें हुई हैं। आज मैं पूरे आत्मविश्वास से कहना चाहता हूँ कि इन एकादश स्नातक तेजपुंज, तप, ज्ञान और सेवामूर्तियों से भारतवर्ष का कोना-कोना आलोकित होगा।

'राजन्, यद्यपि स्वयं से जुड़ने पर किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति प्रत्येक मनुष्य मोहासक्त-सा हो जाता है तथा वह अपनी अनेक आकांक्षाओं को उस पर स्थानान्तरित कर देता है, किन्तु भारत के इन भावी भाग्यविधाताओं की निरपेक्ष संभावनाओं से प्रत्येक भारतीय को गौरवान्वित होने का अवसर है।

'इन मनस्वी शिष्यों का आचार्य बनकर मैं स्वयं भी कम गौरवान्वित नहीं हूँ। किन्तु वास्तव में मेरे परम गौरव का दिन वह होगा जिस दिन मैं अपने इन शिष्यों में से किसी एक से पराजित भी होऊँगा—सर्वत्रजयमिच्छेत् शिष्यादिच्छेत पराजय। राजन्, मेरी यह इच्छा अकृत्रिम है। मुझे लगता है कि यह अवश्य पूर्ण होगी। परन्तु .... परन्तु विदेहराज, आज के इस दीक्षान्त समारोह के मुख्य अतिथि के रूप में आपसे मेरा अनुरोध है कि आप कृपया इनकी योग्यता के प्रकटीकरण हेतु इन्हें कुछ अवसर दें और आशीर्वचन भी।'

आचार्य उद्दालक 'स्वस्ति' कहकर मौन हो गए। विदेहराज जनक से पहला अनुरोध उपस्थित शिष्य समुदाय को कुछ प्रतिभा-प्रदर्शन के अवसर दिये जाने का था। वे मौन कौतूहल से प्रतीक्षा करते प्रतीत हुए।

महर्षि उद्दालक को सहसा स्मरण हुआ कि उन्हें वास्तव में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार प्रथमतः उपस्थित एकादश स्नातकों को एक-एक कर उपाधि ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करना था। पश्चात् वे राजर्षि जनक से अपने विद्यार्थी वर्ग को आशीर्वचन सुनाने का अनुरोध करते। किन्तु अब संभवतः क्रम पलटने का भी समय उनके हाथ से छूट चुका है। जब उन्हें तत्काल कोई घोषणाजन्य विकल्प नहीं सूझा तो उन्होंने एक आशा और अपेक्षा की दृष्टि अपने शिष्य वर्ग की ओर डाली। आचार्य ने देखा कि स्नातकों की पंक्ति से परम तेजस्वी तापस याज्ञवल्क्य उठकर मंच से कुछ दूर करबद्ध निवेदनीय मुद्रा में प्रस्तुत है।

उद्दालक को प्रतीत हुआ कि अब काल की वल्गा उनके हाथ में नहीं है। याज्ञवल्क्य को भी यह प्रतीति भलीभाँति हो रही थी। अतः वह राजर्षि जनक की ओर ही उन्मुख था।

'स्नातक तरुण' राजा जनक ने कहा—'यदि तुम्हारा निवेदन मुझे संबोध्य है, तो अपना मन्तव्य प्रकट करो।'

'सर्वप्रथम तो ऐश्वर्य, ज्ञान और वैराग्य के प्रतिमान के रूप में आप राजराजेन्द्र विदेहराज का मैं अभिवादन करता हूँ। इस गुरुकुल के समस्त विद्यार्थी वर्ग और विशेष-रूप से स्नातक उपाधि से विभूषित छात्रों की ओर से आपका अभिनन्दन है।

'राजन्, सुदीर्घ काल से आपके ज्ञान, वैराग्य और विभूतिमय जीवन की सुकीर्ति सुनकर हम सबमें आपके दर्शन की निश्चित तीव्र लालसा थी। हमने सुना है कि जहाँ आप स्वयं परम् ज्ञानी और तत्त्ववेत्ता हैं, वहीं आपने अनेकानेक विद्या-व्यसनियों को राज्याश्रय भी प्रदान किया है। किन्तु सबसे अधिक चमत्कृत और विस्मित करने वाली आपकी आतिथ्य शैली है। कभी आप बाल-निश्छल आचार्य शुकदेव को कई दिनों तक प्रतीक्षारत् रखते हैं और कभी-कभी तो आप अपनी छत्रच्छाया में पल रहे आचार्यों के द्वारा शास्त्रार्थियों को सरोवर के रास्ते सीधे पाताल लोक की ही यात्रा कराते हैं।'

'याज्ञवल्क्य' 'आचार्य उद्दालक यकायक बोल उठे।' 'तुम राजराजेन्द्र मिथिलाधिपति को इस प्रकार संबोधित कर उनका अभिनंदन कर रहे हो या तुमने उनकी आलोचना की है? मेरे परम प्रातिभ विद्यार्थी के रूप में यद्यपि मुझे तुमसे व्यवहार में किसी स्खलन की आशंका नहीं है, तथापि समय पर तुम्हें सचेत कर देना मेरा कर्त्तव्य भी है।'

'क्षमा करें आचार्यपाद, 'क्षमा'। दोनों हाथ जोड़ते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा, 'ऋषि तुल्य महाराज जनक की आलोचना कर पाने में आज के ऋषि और राजसमाज में किसी की भी सामर्थ्य नहीं है। जो राजा स्वयं क्षत्रिय होकर ब्रह्मविद शुकदेव और आप जैसे ब्राह्मणों को आचरण का आदर्श प्रस्तुत करने में समर्थ हो, उसका कोई भी व्यवहार कैसे भी समालोच्य नहीं है। मैं तो जैसे अपने सम्बोधन द्वारा महाराज के गहन ब्रह्म

चिन्तन संबंधी कुछ विशेष अवसरों का स्मरण कर जिज्ञासुओं को भविष्य में इसी प्रकार के अवसर आगे भी उपलब्ध कराए जाने की प्रच्छन्न कामना ही कर रहा था।'

याज्ञवल्क्य आचार्य और अतिथिवर को प्रणाम कर बैठ गए। उन्होंने देखा कि राजा जनक ने उनकी ओर विशेष दृष्टि डाली है, जो उनका संस्पर्श करती हुई उनके दृष्टिबोध के बहुत आगे किसी अदृश्य दिशा तक चली गई है। इसके पश्चात् मुख्य अतिथि के माध्यम से छात्रों को स्नातक उपाधियों का वितरण हुआ। अब मुख्य अतिथि के सम्बोधन की बारी थी।

'आचार्यप्रवर आरुणि उद्दालक, गुरुकुल के आचार्य, स्नातक वर्ग और विद्यार्थियो!........................स्नातक छात्र याज्ञवल्क्य ने मुझे अपने सम्बोधन के लिए अनायास ही एक रोचक कथावस्तु उपलब्ध करा दी है। संभवत: आप सबको विदित है कि आचार्य उद्दालक के कहोड नाम के एक प्रसिद्ध शिष्य हैं। उनकी गुरुभक्ति और अपूर्व विद्वत्ता देखते हुए आचार्यवर ने उनसे अपनी पुत्री सुजाता का विवाह भी किया था। सुजाता के गर्भ में शीघ्र ही एक तेजस्वी संतान आई। एक दिन कहोड जब वेदपाठ कर रहे थे तो उनकी गर्भस्थ सन्तान ने कहा—'पिताजी, आप रातभर वेदपाठ करते हैं, किन्तु यह ठीक-ठाक नहीं होता।

'अपने शिष्यों के बीच ही एक गर्भस्थ पुत्र द्वारा इस प्रकार आक्षेप करने से श्री कहोड को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने अपने उदरस्थ पुत्र को शाप दिया—'जब तू पेट में रहकर ही इस प्रकार की टेढ़ी-मेढ़ी बात करता है तो जा, तेरा शरीर आठ स्थानों पर वक्र हो जायेगा।'

'पश्चात् कहोड धनसंचय की इच्छा से मेरे दरबार में शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित हुए। तत्समय मेरे दरबार में बन्दी नामक एक अत्यन्त कुशल शास्त्रज्ञ रहते थे जिनसे पराजित होने पर प्रत्येक विद्वान् को सरोवर में डुबो दिये जाने का विधान सार्वजनिक तौर पर स्वीकृत हो चुका था। कुशल शास्त्रज्ञ बन्दी ने कहोड को जब शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया तो नियम के अनुसार उन्हें भी जल में डुबो दिया गया।

'अपने पिता से विलग अष्टावक्र अपने नाना आचार्य उद्दालक को ही अपना पिता जानते थे। एक दिन इनके मामा श्वेतकेतु ने जब इन्हें अपने नाना की गोद से हटा दिया तो इन्होंने अपने माता से पिता का समाचार ज्ञात किया। पश्चात् अष्टावक्र ने अपने मामा श्वेतकेतु सहित मेरे दरबार की ओर प्रस्थान किया।

'यज्ञशाला के प्रवेश-द्वार पर हमारे द्वारपाल ने इन बालकों से कहा कि यज्ञशाला में बालकों का जाना वर्जित है तथा उसमें केवल वृद्ध और विद्वान् ही प्रवेश कर सकते है तब अष्टावक्र ने उससे कहा—'द्वारपाल, मनुष्य अधिक उम्र का होने, बाल पक जाने, अधिक धन अथवा बड़े कुटुम्ब से बड़ा नहीं होता। मनुष्य बड़ा तो अपनी विद्वत्ता और ज्ञान से होता है।

'तब मेरे द्वारपाल ने उन बारह वर्षीय बालकों को मेरे समक्ष प्रस्तुत किया। पहुँचते ही अष्टावक्र ने शास्त्रज्ञ बन्दी को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देने हेतु बुलाने का अनुरोध किया। तब मैंने अष्टावक्र की परीक्षा लेने के उद्देश्य से कहा—'जो पुरुष तीन अवयव, बारह अंश, चौबीस पर्व और तीन सौ साठ ऊरों वाले पदार्थ को जानता है वह बड़ा विद्वान् है।

'यह सुनकर अष्टावक्र ने तुरंत कहा—'जिसमें पक्ष रूप चौबीस पर्व, ऋतुरूप छः नाभि, मासरूप बारह अंश और दिनरूप तीन सौ साठ अरे हैं वह निरंतर घूमने वाला संवत्सर कालचक्र आपकी रक्षा करे।

'अत्यन्त तीक्ष्ण मेधा-शक्ति से युक्त इस उत्तर को सुनकर मैं और मेरी सभा अत्यधिक चमत्कृत हुई।

'स्वभावतः तब अष्टावक्र से प्रसन्न और प्रभावित होकर मैंने उनके लिए यज्ञ-मण्डप का द्वार खुलवा दिया। बन्दी ने तब अपनी विशिष्ट और तीक्ष्ण शैली में अष्टावक्र पर प्रश्नों की बौछार आरम्भ की—

'अष्टावक्र, एक ही अग्नि अनेक प्रकार से प्रकाशित होती है, एक ही सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित कर रहा है, शत्रुओं का नाश करने वाला देवराज इन्द्र एक ही वीर है तथा पितरों का ईश्वर यमराज भी एक ही है।

'अष्टावक्र ने बन्दी की स्थापना को अस्वीकार करते हुए द्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया—'इन्द्र और अग्नि आदि देवता दो हैं, नारद और पर्वत दो देवर्षि हैं, अश्विनीकुमार दो हैं, रथ के पहिए दो होते हैं और विधाता ने पति-पत्नी रूप में सहचर भी दो ही बनाए हैं।

'इसके पश्चात् बन्दी के तीन लोकों के उल्लेख पर अष्टावक्र ने चार मुख्य दिशाओं, चार आश्रम, वर्ण और वाणी, बन्दी के पाँच इन्द्रियों का संदर्भ देने पर अष्टावक्र ने छः ऋतुओं तथा मन सहित छः इन्द्रियों का उल्लेख किया। ये शास्त्रार्थी इसी प्रकार संख्या के सत्य को आधार बनाकर सृष्टि विद्या के विभिन्न स्तरों का उद्घाटन करने लगे।

'बन्दी के पुनः सात ऋषियों और वीणा के सात तारों की बात कहने पर अष्टावक्र ने आठ वस्तुओं और यज्ञ के आठ कोणों का वर्णन किया। बन्दी ने तब नौ अंकों की महत्ता प्रतिपादित की जिस पर अष्टावक्र ने दश-दिशाओं और दशगुणन के आधार पर संख्या वृद्धि का रहस्य प्रकट किया।

'बन्दी भी साधारणतया हार मानने वाले नहीं थे। उन्होंने संख्यात्मक सत्य को इसके आगे बढ़ाते हुए एकादश रुद्र की बात की, इस पर आष्टावक्र ने बारह मास तथा बारह आदित्य आदि का वर्णन किया।

'बन्दी की अब पुनः बारी थी। अपनी आशु श्लोक रचना में निपुण इन शास्त्रज्ञों की वाग्विदग्धता और सर्वदर्शी बुद्धि से मेरा पूरा सभा मण्डल लगातार चमत्कृत हो रहा

था। बन्दी ने तेरह के अंकों को पकड़ते हुए पुनः एक श्लोक की रचना-प्रक्रिया में आधे श्लोक द्वारा व्यक्त किया कि तिथियों में त्रयोदशी उत्तम है और पृथ्वी तेरह द्वीपों वाली है। किन्तु इसके बाद वे अकस्मात् चुप हो गये। स्वभावतः मेरे सभी सभासदों ने तब अष्टावक्र जी की ओर देखा। अष्टावक्र ने तत्काल इस श्लोक की अर्द्धाली पूर्ण करते हुए प्रस्तुत किया कि 'अग्नि, सूर्य और वायु—ये तीनों देवता तेरह दिनों के यज्ञों में व्याप्त हैं और वेदों में भी तेरह आदि अक्षरों वाले अतिछन्द कहे गए हैं।'

'अष्टावक्र की वेद-विषयक इस सूक्ष्म चेतना से मेरे सभा मण्डल में उपस्थित सभी विद्वानों ने एक स्वर से अष्टावक्र को विजयी घोषित किया।

'सोम्य याज्ञवल्क्य, अब तुम्हारे भी प्रश्न के समाधान की बारी है। शास्त्रार्थ में पराजित विद्वानों को जलाशय में डुबो देने से किसी को भी लग सकता है कि कुल मिलाकर यह तो विद्वानों का असम्मान ही हुआ। किन्हीं-किन्हीं को तो उसमें स्पष्ट अत्याचार और अनाचार दृष्टिगोचर हुआ है। इसका समाधान मैं बन्दी के ही शब्दों में प्रस्तुत कर रहा हूँ। शास्त्रार्थ में पराजित बन्दी ने इस प्रकार कहा—'महाराज, मैं जलाधीश वरुण का पुत्र हूँ। मेरे पिता के यहाँ भी आपकी ही तरह बारह वर्षों में पूर्ण होने वाला यज्ञ हो रहा है। उसी के लिए मैंने जल में डुबोने के बहाने चुने हुए श्रेष्ठ विद्वानों को वरुण लोक भेजा है। वे सब अब लौट आयेंगे। अष्टावक्र जी मेरे भी पूजनीय हैं। अब इनकी कृपा से मैं स्वयं जल में डूब कर अपने पिता वरुण देव से शीघ्र मिल पाने का सौभाग्य प्राप्त करूँगा।'

याज्ञवल्क्य को राजा जनक के सम्बोधन का कितना स्मरण है? संभवतः वह अक्षरशः उसे दुहरा सकते हैं। किन्तु ऐसे औपचारिक अवसरों का कहाँ तक, कितना स्मरण किया जाय? क्या आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में इसका उपयोग है?

किन्तु अभी तो तरुण स्नातक को लोक-जीवन और जीवन-यापन के उपयुक्त कठिनतर मार्ग की तलाश है। आचार्यपाद की इस आशीर्वादपूर्ण छत्रच्छाया में संसार की व्यथा की ऊष्मा की उन्हें अब तक प्रतीति कहाँ थी? अब, हाँ अब—

प्रातः किरण मध्याह्न भानु में ढलती सी है
पगडंडी ने राजमार्ग को पाँव पसारे,
सिंधु किनारे पर निश्चल इठलाई नौका
लहरों से टकराने लड़ने अब जाती है।

यह सब इतना आसान कहाँ है? ऐसा कहाँ है कि आपने स्नातक उपाधि प्राप्त की और मुख्य अतिथि के रूप में पधारे राजा जनक ने अपनी राज्याश्रित पाठशाला में आपको आचार्य के पद पर सीधी नियुक्ति दे दी हो? ऐसा सौभाग्य तो याज्ञवल्क्य के कुछ राजपुरुष सहपाठियों का अवश्य है कि विद्याध्ययन से लौटते ही वे युवराज, उत्तराधिकारी या राज्य व्यवस्था में किसी उत्तरदायित्व को सीधे ही प्राप्त कर सकेंगे,

किन्तु एक आश्रयहीन, वनचर ब्राह्मण को तो अभी भटकना ही अभीष्ट है। पता नहीं उसे और कितनी प्रतियोगिताओं से गुजरना है?

इस गुरुकुल, जिसका कि वह सर्वाधिक प्रतिभाशाली छात्र रहकर सर्वोत्तम श्रेणी से स्नातक बना है, में प्रवेश के लिए भी उसे कितना संकट नहीं झेलना पड़ा था।

भला बिना किसी गोत्र, माता, पिता या पूर्व आचार्य के संदर्भ के उद्दालक याज्ञवल्क्य को अपने गुरुकुल में कैसे प्रवेश दें? तब याज्ञवल्क्य को आचार्यवर को जबाला पुत्र सत्यकाम का उदाहरण देना पड़ा था।

'आचार्यवीर, आपके ही सगोत्रीय आचार्य हारिद्रुमत गौतम के पास जब जबाला- पुत्र सत्यकाम शिक्षा ग्रहण करने पहुँचा तो आचार्य ने उससे पूछा था— 'सौम्य! तू किस गोत्र वाला है? इस पर सत्यकाम ने उनसे निवेदन किया—

'भगवन्! मैं जिस गोत्र वाला हूँ, उसे मैं नहीं जानता। इस संबंध में मैंने अपनी माँ से पूछा था। उसने मुझे यह उत्तर दिया था—'युवावस्था में, जबकि मैं बहुत कामधन्धा करने वाली परिचारिणी थी, मैंने तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र वाला है। मैं जबाला नाम वाली हूँ और तू सत्यकाम नाम वाला है। इस प्रकार सत्यकाम ने कहा कि आचार्यवर उसे 'सत्यकाम जबाल' नाम से स्वीकार करें। इस पर आचार्य गौतम ने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता। अतः सौम्य! तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूँगा, तूने सत्य का त्याग नहीं किया।'

इस इतिवृत्त के बाद जैसे आचार्य उद्दालक को याज्ञवल्क्य से कुछ पूछना शेष नहीं बचा था। किन्तु प्रश्नों को संप्रश्न से कहाँ-कहाँ निरुत्तरित किया जा सकता है? सभी ऋषि और राजपुत्र सहपाठी केवल ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा पूर्ति के लिए आश्रम में नहीं आए हैं। उन्हें लोकाचार का निर्वाह भी तो अभीष्ट है।

सभी जानते हैं कि याज्ञवल्क्य अतीत, वर्ण और कुल की सीमाओं को तोड़ता है। उसने तो जैसे अपने सामने की दिशा की ओर दौड़ते हुए अश्व की वल्गा को अपने मुँह में थामा है। उसे सीधे ही देखना है, बहुत दूर भागते हुए अश्व की ओर, अदृश्य के भी आगे, बहुत आगे।

किन्तु, आज तो उसे भी गन्तव्य की जैसे प्रतीक्षा है। वह किसी राज्य का आश्रित अथवा किसी की कृपा का पात्र बनकर अपनी अमूल्य शिक्षा का विक्रय-पत्र नहीं लिख सकता। यदि उसके विद्या-व्यसन तथा उनकी ज्ञान निष्ठा में सामर्थ्य है तो स्वतः ही उसके जीवन के लिए आवश्यक सारी व्यवस्थाएँ उसे सुलभ हो जानी चाहिए।

और वह चाहता क्या है! एक छोटा-सा आश्रम जिसमें उसके नित्य नैमित्तिक विधान की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। साधन, अध्यवसाय के बाद आत्म ज्ञान

और ब्रह्मवार्त्ता के लिए निकटस्थ कुछ साधना, ज्ञान और तप में निष्ठा रखते लोग हों। मुझे ज्ञान-संचय के लिए निरन्तर समय शेष रहे, अतः आश्रम की व्यवस्था और देख-रेख के लिए मेरे उपरान्त भी कोई हो।

मेरे उपरान्त, या मेरे समानान्तर? ओह! गुरुमाता आचार्यवर के गुरुकुल की व्यवस्था को कितनी पूर्णता से बनाए रखी हुई थीं। आचार्यवर को तो कभी इस बात का ध्यान था ही नहीं कि आश्रम में आवश्यकताओं की किस वस्तु का अभाव है तथा उसकी कहाँ से पूर्ति होती है।

यदि विगत इन पन्द्रह वर्षों तक उनकी मातृत्व छाया से वह वंचित रहता तो जैसे वह तृषार्त भीषण ताप में ही विचरण कर रहा होता।

मातृच्छाया, मातृशक्ति, सहधर्मिणी, स्त्री! क्या ये एक ही मूल तत्त्व के अलग-अलग रूप नहीं हैं? ठीक है मेरा ब्रह्मचर्यत्व मुझे अब तक स्त्रीसंग या किसी सहधर्मिणी की धारिता से पृथक् करता था, किन्तु क्या स्त्री के मातृत्व और शक्तित्व से मैं अथवा कोई भी पुरुष अपने आपको सर्वथा अलग कर सकता है? सच में कितना पढ़ा, कितना सोचा और क्या-क्या कल्पनाएँ नहीं करता हूँ किन्तु क्या मैं स्त्री-पुरुष की सम्बन्ध शृंखला के सूत्र को पकड़ पाया हूँ कभी, बिल्कुल ही तो नहीं कह सकता। कौन अधिक प्रकृत है—मैं जिसने अब तक स्त्रीसंग का अनुभव नहीं किया अथवा वह जो निरंतर भोगयुक्त है? यदि यही एक जीवन स्थिति है तो बिना इसके भी कैसे जिया जाता है और यदि यह परिहार्य है तो उससे सर्वदा मुक्ति क्यों सुलभ प्रतीत नहीं होती?

वह एक कामना ही है या कि सिद्धि भी? यदि केवल कामना ही है तो वह ध्येय ही सिद्ध है और यदि सिद्धि भी है तो उसमें अलौकिक क्या है?

यह सब पूरी तरह जानने और समझने के लिए याज्ञवल्क्य का शास्त्र-ज्ञान जैसे पर्याप्त नहीं है। संभव है इस दिशा में जानने और समझने के लिए कुछ अध्ययन-कार्य उसे शेष बना हुआ है। और विचित्रता यह है कि उसे यह शिक्षा प्रदान करने के लिए कोई भी प्रस्तुत नहीं है। आप प्रकृति के अधीन पीड़ा का संताप भोगें—शायद नियति यही है। किन्तु पूर्णता कहाँ है? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्य प्रकृति में रहते हुए भी चैतन्य से प्रकाशित रहे?

क्या हो गया है याज्ञवल्क्य के मस्तिष्क को आज? आखिर एक शुद्ध आध्यात्म ज्ञान और ब्रह्मविद्या के उपासक को नर-नारी सम्बन्धों की घोर लौकिकता से क्या लेना-देना? यह कोई दैवी नियोजना है अथवा मानव-मन के आवेग का क्षणिक विस्तार?

ब्रह्म, जीव, माया और नानात्व की इस अपरा सृष्टि के रहस्य-तलों को अपने वैचारिक धरातल पर उद्घाटित कर देने वाले याज्ञवल्क्य को अपनी एकान्त पर्ण कुटीर में यह कौन-सी रिक्तता घेर रही है? क्या अभाव ही एक उपस्थिति बनकर नहीं आ

गया है यहाँ? क्या है वह? कौन है वह? याज्ञवल्क्य की पारदर्शी प्रज्ञा से ओझल कैसे है वह?

जैसे कि वे स्वयं एक प्रतीक्षा में हैं। और जैसे कि वे स्वयं एक प्रतीक्षा ही हैं। उनकी तलस्पर्शनी मेधा से अदृश्य यह अंतरंग संसार कब निर्मित हो गया है इसका उन्हें कोई पता ही नहीं चला है—

'भूतग्रामामिमं कृत्स्नमवशं प्रकृर्तेवशात्।'

यह अखिल संसार जैसे उनकी अवशता में ही उनकी स्वतंत्र प्रकृति से बनकर उत्पन्न हो गया है। अब इसे पहचानना और जानना उनके लिए आवश्यक ही है।

याज्ञवल्क्य को स्मरण है। एक दिन उनके आचार्य उद्दालक ने याज्ञवल्क्य द्वारा अपने जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने की इच्छा व्यक्त करने पर कहा था—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणिचयद् वदन्ति
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तन्ते पदं संग्रेहेण ब्रवीमि..........'

(जिस पद का प्रतिपादन सारे वेद करते हैं, जिस पद प्राप्ति का साधन सारी तपस्याएँ हैं और जिस स्थान की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, मैं संक्षेप में वही पद कहता हूँ।)

इसके पश्चात् आचार्यवर ने नचिकेता द्वारा यम से पूछे गये 'मरणोत्तर-जीवन' विषयक् तीसरे प्रश्न के उत्तर का रोचक प्रसंग सुनाया। पता नहीं आचार्य जी ब्रह्मचर्य शब्द और अर्थ की किस सीमा-रेखा को खोज रहे थे। उन्होंने गीता के लगभग समानार्थी श्लोक का स्मरण कर याज्ञवल्क्य को भी सुनाने को कहा। याज्ञवल्क्य ने गीता के आठवें अध्याय के ११वें श्लोक को निम्नानुसार दुहराया—

'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तन्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।।'

आचार्य कुछ देर मौन-स्थिति में रहे। पश्चात् उन्होंने अपना अभिप्राय इसप्रकार से प्रकट किया—'ब्रह्मचर्य तो एक साधन है, उसे तुम साध्य कैसे मान सकते हो? उस अक्षर, अविनाशी तत्त्व को जानने के लिए जो अनेक मार्ग हैं, उनमें से एक ब्रह्मचर्य भी है। फिर ब्रह्मचर्य कोई बहिर्मुखी साधना भी नहीं है। मन, देह और बुद्धि से संपूर्णतया उस सनातन सत्य में संचरण करना ही ब्रह्मचर्यत्व है।

'तुम्हारे अध्ययन, मनन और अध्यवसाय की परिपक्व अवस्था को देखते हुए ही मैं प्रत्यक्षतः विषयान्तर होकर भी तुम्हें तुम्हारी इच्छामूलक भ्रान्ति का दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ। मुझे यहाँ शुकदेव जी में उत्पन्न इसी प्रकार के वैराग्य के वृत्तान्त का स्मरण हो रहा है जिसे उनके परमज्ञानी पिता वेदव्यास भी दूर करने में असमर्थ रहे।

अतः उन्होंने इसके निवारण तथा शुकदेव को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिए उन्हें विदेह राजा जनक के पास भेजा था।

'वेदव्यास जी ने श्री शुकदेव जी से कहा था कि चूँकि सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही उत्तम है, अतः शुकदेव जी को उसमें प्रवेश करना चाहिए। शुकदेव जी का कहना था कि गृहस्थाश्रम तो एक 'बन्धन' है, अतः वे इसे स्वीकार नहीं करना चाहते। जनक जी से उन्होंने प्रत्यक्षतः प्रश्न किया—

'बुद्धि में वैराग्य और प्रत्यक्ष ज्ञान एवं परोक्ष ज्ञान का उदय हो जाने पर भी क्या गृहस्थ आश्रम में जाना उचित है।'

जनक ने शुकदेव को समझाया—'जो नीचे सोता है उसके पलंग से गिरने की संभावना नहीं होती। यदि कोई असमय में ही वैराग्य धारण कर लेता है तो उसके पतन के अवसर प्रत्यक्ष रहते हैं। चींटी पैर से ही वृक्ष के मूल पर चढ़कर डाली तक पहुँच जाती है और सुखपूर्वक फल प्राप्त करती है। पक्षी कोई विघ्न सामने न आ जाये, इस भय से बड़ी तेजी से चलता है। परिणाम यह होता है कि जहाँ पक्षी थक जाता है, चींटी आराम से फलोपभोग करती है। मन पर नियंत्रण का प्रकृत उपाय मन का नकार नहीं है। गृहस्थाश्रम मन के तात्कालिक वेग को एक दिशा प्रदान कर उसे स्वाभाविक नियंत्रण के अनुकूल करता है।

'मैं इतने विशाल राज्य का स्वामी होकर भी किस प्रकार जीवनमुक्त हूँ। इसका कारण यह है कि मैं इच्छानुसार कर्म करता हूँ, किन्तु कोई भी कर्म मेरे बन्धन का कारण नहीं है। वह मुझे कैसे बन्धन में डाल सकेगा? पाँच तत्त्व और उनके गुण कहाँ दिखाई पड़ते हैं! इसी प्रकार आत्मा भी तुम अनुमान से ही तो जानते हो। उसे प्रत्यक्ष कहाँ देखा है? फिर किसके बन्धन की बात करते हो?

'वास्तव में मनुष्य को बन्धन में डालने और मुक्त करने में देह, जीवात्मा और इन्द्रियाँ—कोई भी कारण नहीं है। केवल हमारा मन ही हमारे बन्धन या मुक्ति का निमित्त और कारण है। शत्रु, मित्र और उदासीन सभी भेद मन में ही तो रहते हैं।

'वत्स, यदि गुणों में गुण, भूतों में भूत है तो इन्द्रियों का विषयों में रहना भी तो स्वाभाविक है। इसमें आत्मा कहाँ दोषी है।

'शुकदेव ने आगे अपना संशय प्रकट करते हुए पुनः कहा—'मैंने देखा है कि शास्त्र का ज्ञान और नित्य एवं अनित्य का विवेक होने पर भी मनुष्य संसार के बन्धन में ही बना रहता है। मनुष्य में स्वभावतः असीम सामर्थ्य है। उसकी इस सामर्थ्य की तुलना में अखिल विश्व की शक्ति को भी तौला जा सकता है। किन्तु एक गृहस्थ बनकर वह इतना सीमित और संकुचित हो जाता है कि अकेले अपना भार वहन करने में भी समर्थ नहीं होता।

'राजन्, मैं देख रहा हूँ कि एक राजा के रूप में आप में भी धन और राज्य-सुख तथा संग्राम में विजय की अभिलाषा है। आप में चोर और साधु के प्रति भेद बुद्धि है।

आपको कड़वे, तीखे, खट्टे एवं कैसैले आदि रसों का भी ज्ञान है। आपको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का यथावत् भान है। तब मैं कैसे मानूँ कि एक गृहस्थ राजा के रूप में भी आप में वेदान्त की शब्दावली में माला और सर्प में समान बुद्धि है?

आपने इस भेंट के पूर्व मुझे भोग और विलास के नाना उपादान प्रस्तुत कर मेरी वैराग्य वृत्ति की स्वयं सघन परीक्षा ले ली है। अब आप बताइए कि मुझे निर्धारित आश्रम व्यवस्था के क्रमिक सोपान से गुजरने की आवश्यकता कैसे शेष है? घर, धन और स्त्री मेरे लिए कहाँ प्रयोजनीय है?'

इस पर जनक ने अपना संभाषण इस प्रकार जारी रखा—

'मुने! भोजन की चिंता तो कभी किसी का साथ नहीं छोड़ती। आप एक वीतराग संन्यासी होकर भी क्या इससे मुक्त रह सकोगे? जिस प्रकार वन में रहते हुए आपको अपने दण्ड और मृगचर्म की चिन्ता बनी ही रहती है ठीक वैसे ही और कुल उतनी ही मुझे भी इस राज्य की चिन्ता है। क्या हम दोनों की चिन्ता समान नहीं है? बल्कि दूरस्थ चले जाने के कारण आपकी चिन्ता का भार कहीं गुरुतर ही है। ब्रह्मचारिन्, वास्तविक बन्धन तो हमारी वह अहन्ता है जो हमें किसी कर्त्तव्य का कर्ता बनाती है।

'कर्त्तव्य बन्धन नहीं, कर्तापन बन्धन है। और यह कर्तृत्व केवल स्वीकार ही नहीं' अस्वीकार भी तो है। तुम जब कहते हो कि मैं विवाह नहीं करूँगा तो क्या तुम एक नकार का कर्तापन ही नहीं ओढ़ रहे हो?

'मेरा यह विशाल राज्य, सम्पदा और वैभव ही लो। यदि मैं इसे स्वीकार या अस्वीकार करूँ, तभी तो बन्धन है। मैं इसे जब अपना या पराया मानूँ तभी तो मैं इसके अधीन हूँ। वास्तविकता तो यह है कि यह सब अपनी जगह और मैं अपनी जगह हूँ। सीमा रेखाएँ तो बहुत पहले से ही बनी हुई हैं। हमें तो उनके प्रति जागरूक भर रहना है।

'आपके पिता महर्षि वेदव्यास तो पूर्ण दृष्टा हैं। चार वेद और अठारह पुराणों का सम्पादन करने वाला ऋषि क्या कोई साधारण मनुष्य हो सकता है? क्या तुम्हें इस तथ्य से आश्चर्य नहीं होता कि वे महाभारत की रचना करते हुए स्वयं का चरित्रांकन भी एक पात्र के रूप में करते हैं। इसका आशय यही है कि वास्तव में वे वहाँ भी हैं जहाँ दिखाई नहीं पड़ रहे हैं और जहाँ प्रकट हैं वहाँ उनका होना आवश्यक नहीं है। अत: उन्होंने यदि तुम्हारे विवाह का प्रस्ताव रखा है तो यह निश्चित ही किसी सार्वभौम व्यवस्था का ही कोई अंग है। इसे मानने या न मानने वाले इच्छा या संकल्प के एक निरीह मनुष्य तुम क्यों बनना चाहते हो?'

याज्ञवल्क्य को आचार्य उद्दालक के स्वर में राजा जनक का श्री शुकदेव से किया गया प्रश्न—'मानने या न मानने वाले इच्छा या संकल्प से अवश एक निरीह

मनुष्य तुम क्यों बनना चाहते हो?' कानों में बार-बार गूँजता है। किन्तु उनके भविष्य का विधान देखने वाले व्यास जैसे दृष्टा पुरुष उन्हें कहाँ मिलेगें?

यदि ऋषि उद्दालक ने ही उन्हें भविष्य का कोई संकेत दिया होता तो वे उसे ही अपना भवितव्य् मानकर उसे अतर्क्यभाव से स्वीकार कर लेते। किन्तु........किन्तु........उन्हें कहाँ ज्ञात है कि उन्हें किस सुकन्या का हाथ थामना है? यह भी कितना विचित्र है कि वे धरती पर अपने जीवन के पच्चीस वर्ष बिता चुके हैं, किन्तु उन्हें यह पता नहीं कि जीवन की शेष कम से कम दो तिहाई आयु को किसके साथ व्यतीत करेंगे? यह संशय और अनिश्चितता उनकी भावी सहधर्मिणी में भी तो यथावत् विद्यमान होगी। संग और असंगयुक्त जीवन के ये दो छोर परस्पर एक-दूसरे के कितने पूरक हैं? शायद यह प्रश्न उठता नहीं है। शायद, यह प्रश्न बनता ही नहीं है। शायद, शायद...............

याज्ञवल्क्य को गंगा के किनारे-किनारे उत्तर की ओर की गई उनकी हिमालय यात्रा की सुधि आ रही है। वे साधु-आश्रम में रुके थे। वहाँ दो युवक स्त्रियाँ भी हैं। इनमें से एक के साथ उसके परिवार के सदस्य हैं और दूसरी अकेली प्रतीत हो रही है। सायंकाल के प्रसाद-वितरण के समय जब सभी आश्रमवासी और अतिथि एकत्र हुए तो वे दोनों स्त्रियाँ परस्पर बात करते हुए एक-दूसरे से परिचय प्राप्त कर रही थीं। उसके बाद प्रायः जब सभी अतिथिगण एक-एक कर अपना परिचय देने लगे तो इस एकाकी बाला ने अपना परिचय इस प्रकार दिया—

'और मैं हूँ कात्यायनी, ऋषि कात्यायन की पुत्री। मेरे पिता लगभग एक वर्ष पूर्व उत्तर दिशा भागीरथी के उत्स की ओर अपने कुछ शिष्य समुदाय के साथ निकले थे। इतने समय तक वे जब नहीं लौटे हैं तो मैं चिन्ताकुल होकर इस दिशा की ओर स्वयं निकल पड़ी हूँ।'

याज्ञवल्क्य को लगा कि हिमालय की इस अगम्य दिशा में एकाकी कन्या का इस प्रकार प्रस्थित हो जाना सचमुच ही अत्यन्त दुष्कर संकल्प है। कात्यायनी की ओर ध्यानपूर्वक देखने से उन्हें लगा कि उसके नव-यौवना होने पर भी उसमें प्रौढ़ता के जो लक्षण उन्हें दिख रहे हैं उनका उसकी आयु से कुछ लेना-देना नहीं है। उसके इस दुष्कर संकल्प की पृष्ठभूमि में भी नियति से उसे प्राप्त अनेक थपेड़े ही उसकी रूप-सज्जा में अपने निशान छोड़ गये हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य का उसकी ओर इतना ध्यान देना, विचार करना और उससे आगे कुछ पूछना क्या उचित है?...................

यह जो गृहस्थ स्त्री है, इससे बात की जा सकती है। इसमें कोई ऐसा वेग नहीं है जो आन्दोलित करता हो। और संभव है इसके द्वारा कात्यायनी का भी कोई विस्तृततर परिचय प्राप्त हो सके।

'हम सुदूर मध्य प्रान्तर के एक राजपरिवार से हैं। हमारे पति संस्कार और स्वभाव से आखेट वृत्ति के हैं। इस बार मैं उन्हें किसी तरह इस 'उत्तर-पथ' में प्रवृत्त

कर सकी हूँ। यह अच्छा है कि इस यात्रा में उनके साथ अस्त्र नहीं है। किन्तु पाँव और पहाड़ तो उनके पास हैं ही, इसलिए सुबह से अब तक नहीं लौटे हैं।

फिर भी कैसी निश्चिंतता है इस भद्र महिला में। संभवतः एक पुरुष सहयोगी की स्वीकृत स्थितिविशेष ही इसकी निश्चिंतता का कारण होगी। शायद उसमें भी समान निश्चिंत भाव काम रहा हो। शायद इसलिए वह स्वतंत्र विचरण कर रहा है।

परन्तु तुम क्यों क्लान्त हो कात्यायनी?

तुम्हें क्या केवल पितृ-वियोग की ही पीड़ा है? किन्तु तुम्हारे सौम्य मुख पर पीड़ा तो एक स्थाई भाव बन गई प्रतीत होती है?

मैं सचमुच ही तो नहीं यह सब पूछ बैठा हूँ—कुछ क्षणों की अपनी निर्निमेष दृष्टि कात्यायनी से हटाकर याज्ञवल्क्य ने सोचा। उन्हें अपनी इस असावधानी पर विस्मय था।

याज्ञवल्क्य ने देखा कि अपना परिचय देने की उनकी बारी पर सभी आँखें उन पर एकसाथ टँक गई हैं। उन्हें अब कात्यायनी की दृष्टि के बन्धन का भी रहस्य समझ में आ गया।

'मैं आचार्यवर ऋषि उद्दालक का शिष्य याज्ञवल्क्य..................'

'ओह..................' अकस्मात् कात्यायनी का स्वर खिला। 'मैंने अपने पिता कात्यायन के साथ कुछ समय पूर्व ऋषि श्रेष्ठ के ज्ञान गुरुकुल में उनसे स्वयं आपकी ज्ञान-गरिमा की बहुत प्रशंसा सुन रखी है।'

इस बातचीत को क्या और कोई सुन रहा है?

❖

मैत्रेयी

वाचक्नवी मैत्रेयी गार्गी। गर्ग गोत्रीय ऋषि वचक्नु की बेटी मैत्रेयी। वाक्पटु, मेधावी और तेजतप्त।

वचक्नु ने अपने पुत्र बालाकि गार्ग्य और गार्गी को समस्त संचित ज्ञान और विज्ञान को तो प्रदान किया ही है, उन्होंने अपने युग के श्रेष्ठ मनीषियों, सिद्धों तथा राजर्षियों से उनका सुदीर्घ सत्संग भी कराया है।

मैत्रेयी में तो अपनी शैशवावस्था से ही विलक्षण प्रतिभा है। उसके स्वरोच्चार का आरम्भ ही प्रणवोच्चार था। पता नहीं वह किसी अदृश्य शक्ति का माध्यम थी

अथवा उसका पूर्व जन्म में संचित ज्ञान ही उसके वर्तमान को आप्लावित करने के लिए उसके स्मृतिकोष में इकट्ठा हो गया था।

जब उसने अपने समवयस्कों और अग्रज बन्धु को ही अपनी तर्क बुद्धि से बार-बार पराजित करना आरम्भ किया तो अधिक ज्ञान और साधनसम्पन्न साधक भी उसकी ओर समाकृष्ट होने लगे। किन्तु मैत्रेयी तो जैसे अपने प्रतियोगी की शब्द-सामर्थ्य का ही अपहरण कर लेती थी।

अनेक अवसरों पर मैत्रेयी के आक्रामक तेवर उसके अग्रज और पिता को उद्विग्न भी कर देते थे। उसके द्वारा बड़े-बड़े ऋषियों को कभी-कभी नामतः सम्बोधित करने पर विद्वत् समाज ने आपत्ति भी की थी। किन्तु मैत्रेयी को इसकी चिन्ता नहीं थी। वह जानती थी कि यहाँ दोष केवल उसकी वय का है, सामर्थ्य का नहीं तथा यह कि इस धरातल पर उसे कोई परास्त नहीं कर सकता था।

मैत्रेयी को विदित था कि ऋषि वचक्नु जहाँ अपने पुत्र की तर्कप्रवणता से संतुष्ट थे, वहीं उन्हें उसके पाण्डित्य प्रदर्शन के प्रति आशंका भी बनी रहती थी। उन्होंने उसे अनेक बार समझाया कि ब्रह्मज्ञान पाण्डित्य प्रदर्शन योग्य नहीं होता। यह तो एक अनुभवगम्य सत्य है। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रह्मज्ञान निर्मूल्य है। किन्तु बालाकि ने अपने आस-पास के पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिग्विजय की इच्छा से प्रस्थान किया। उसने अपने पिता को आश्वस्त किया कि वह देश के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ-प्रेमी राजाओं के सभा मण्डपों में जाकर अपनी ज्ञानवृत्ति से अपार गोधन संचित करेगा।

बालाकि शीघ्र ही अपनी यात्रा से वापस लौट आया। मैत्रेयी को लगा कि बालाकि में इस बार विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा है। उसने अपने अग्रज बन्धु से पूछा—

'मुझे चिन्ता हो रही थी कि आप कहीं राजा जनक की सभा में वहाँ के प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ बन्दी से तो नहीं उलझ गये हो। अन्यथा उसके सरोवर में डुबो देने के दण्डविधान से मुक्ति के लिए मुझे ही अष्टावक्र की भाँति वहाँ आना पड़ता।'

'तुम्हें पता है मैत्रेयी कि अब बन्दी राजा जनक की सभा में नहीं हैं। और वास्तव में जनक का सभागार तो मैंने तुम्हारे कौशल के प्रदर्शन के लिए छोड़ रखा है।'

'यह मेरी इच्छा है किन्तु यह तो किसी विशेष अवसर पर ही पूरी हो सकती है।..............अभी तो मुझे आपके संस्मरण सुनने की इच्छा है।' मैं वीतराग नृप अजात शत्रु के सभा मण्डप में गया था।

यह राजा भी अपनी ज्ञान पिपासा और उदाहरण में राजा जनक से किसी प्रकार कम नहीं है और वास्तव में उसने तो मेरा इस सीमा तक मोह भंग किया है कि उसे मैंने अब अपने गुरुरूप में ही वरण कर लिया है।

'मैंने अजातशत्रु के पास पहुँचकर बिना किसी भूमिका के उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने का प्रस्ताव किया। राजा ने भी तब बिना किसी प्रश्न और परीक्षा के तत्काल मुझे एक सहस्त्र गायें प्रदान कीं। पश्चात् मैंने आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि मूल तत्त्वों के रूप में ब्रह्म की उपासना का क्रम से अभिप्राय प्रकट किया। किन्तु प्रत्येक बार अजातशत्रु ने पृथक्-पृथक् कारणों से इसे अस्वीकार करते हुए सर्व सत्य के प्रतिपादन का अनुरोध ही दुहराया।

'तब मैंने पुनः दर्पण में पुरुष के स्वयं के प्रतिरूप जानने वाले के पीछे उत्पन्न होने वाली शब्द, दिशा-पुरुष, छाया-पुरुष तथा आत्मा के रूप में ब्रह्म की उपासना का आशय प्रकट किया किन्तु, अजातशत्रु ने इन प्रस्थापनाओं को भी निर्दिष्ट सीमाओं के अधीन मानकर इन्हें अस्वीकार कर दिया।

'यह निश्चित ही मेरी मोहभंग पूर्ण पराजय थी। मुझे लगा कि इस साधारण से संसारी प्रतीत होने वाले राजा ने आत्मज्ञान के क्षेत्र में मुझसे बहुत आगे की यात्रा पूरी कर ली है। अतः मैंने उससे अनुरोध किया कि वह मुझे अपना शिष्य स्वीकार कर वास्तविक ज्ञान प्रदान करें।

'तब अजातशत्रु मेरा हाथ पकड़कर मुझे एक सोते हुए पुरुष के पास ले गया। अजातशत्रु ने उस पुरुष को ब्रह्म नाम से बुलाया किन्तु वह नहीं उठा। तब ज्यों ही उसने उसे हाथ से झकझोरा' वह उठकर बैठ गया। इस घटना के बाद अजातशत्रु ने मुझसे पूछा—

'यह जो ब्रह्म है, जब सोया हुआ था, कहाँ था? और यह जो पुरुष जाग उठा है, कहाँ से आया है? वस्तुतः मुझे इसका उत्तर विदित नहीं था, अतः मैंने राजा से ही इसे बताने का अनुरोध किया।

'इस पर मुझे अजातशत्रु ने समझाया—यह जो पुरुष है, जब सोया हुआ था, उस समय विज्ञान के द्वारा इन इन्द्रियों की ज्ञान शक्ति को ग्रहण कर हृदयकाश में विश्राम कर रहा था। जिस प्रकार कोई राजा अपने राज्य में यथेच्छा भ्रमण करता है उसी प्रकार यह पुरुष भी प्राण के सहारे अपने शरीर में यथेच्छा भ्रमण करता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने ही द्वारा निर्मित तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाती है तथा जिस प्रकार अग्नि से अनेक चिन्गारियाँ फूटती हैं, वैसे ही इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवता और समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। अतः 'सत्य का सत्य' यह वह आत्मा ही है।'

मैत्रेयी सोचने लगी—ब्रह्म जो सर्वथा अनिर्दिष्ट है, उसे विभिन्न तत्त्वों, रूपों या नामों में कैसे जाना जा सकता है? 'नेति', 'नेति', का इसके अतिरिक्त दूसरा आशय क्या हो सकता है? वास्तव में एक सम्पूर्ण नकार और आहरण भी क्या रिक्तता ही शेष छोड़ेगा? नहीं। उस पूर्ण में से अनेक पूर्ण निकाल दिये जाने पर केवल पूर्ण ही तो शेष बचेगा—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

यूँ इस अवशिष्ट पूर्ण को हमने ब्रह्म नाम तो दे दिया है पर इसका रूप भी तो कोई हो। क्या है वह?

मैत्रेयी को स्मरण है। उसके पिता वचक्नु ने उसे बताया था कि जिस समय वसुदेव-सुत कृष्ण का ब्रजभूमि में नन्दबाबा के घर नामकरण संस्कार मनाया जा रहा था, उसके सगोत्रीय और यादवों के कुलगुरु गर्गाचार्य वसुदेव की प्रेरणा से ब्रजभूमि पहुँचे। उन्होंने कृष्ण की इसी भाव से पूजा की कि ये स्वयं साक्षात् परमेश्वर हैं। किन्तु गर्गाचार्य को विधिवत् उनका नामकरण संस्कार सम्पन्न करने में संकोच हो रहा था। यदि यह सब सूचना कंस को पहुँच गई तो वह कृष्ण को मारने के लिए तत्काल चेष्टा करेगा। अतः इस परमेश्वर रूप का नामकरण संस्कार उन्होंने एकान्त में इस प्रकार सम्पन्न किया था—'प्रत्येक युग में शरीर धारण करने वाले इस कृष्णवर्णी के गुण और कर्मों के अनुसार अनेकानेक नाम हैं। नन्दजी गुण, सम्पत्ति, सौन्दर्य, कीर्ति और प्रभाव में, कृष्ण साक्षात् परमेश्वर ही हैं।'

सर्वथा असीम और अनन्त ब्रह्म इतना ससीम कैसे हो सकता है—मैत्रेयी सोचती है। निर्गुण-निराकार में इतने गुण और धर्म कहाँ से, कैसे आ सकते हैं?

पर कृष्ण तो कर्षण करता ही है, अपने नाम से भी और रूप से भी। पता नहीं वह बंधन देता है या मुक्ति—आकर्षण का बन्धन या निजत्व की छूट?

कितना विचित्र है? एकान्त, निजता, मुक्ति नहीं है। इसके लिए द्वैत का आकर्षण, बन्धन जरूरी है। जैसे यदि बन्धन न होता तो मुक्ति की बात कहाँ से उठती?

यदि मुक्ति एक भाव या स्थिति शून्यता है तो उसकी पृष्ठभूमि में भाव और स्थिति का अनुमान तो होता ही है।

मैत्रेयी कहाँ है—बन्धन में या मुक्ति में? वह चाहती क्या है—बन्धन या मुक्ति? मुक्ति! किससे? क्या उसने बन्धन स्वीकार किये हैं? क्या सचमुच ही स्वीकार्य हैं उसे ये?

पिता वचक्नु ने उसे समझाया था—'सोऽकामयत द्वितीयो मं आत्मा जायेतेति।' उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो। दूसरा शरीर कौन-सा—स्त्री का? क्यों?

क्या वह मूलतः पुरुष ही है? तब क्या स्त्री एक उपोत्पत्ति मात्र है?

नहीं। जब भगवान् विष्णु बालक-रूप में वटपत्र पर सोये हुए थे तो वे यह सोच रहे थे—मैं क्यों और कैसे बालक बना? मेरी रचना करने वाला कौन है? इस पर पराम्बा ने उनसे कहा—

सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्

(यह सारा जगत मैं ही हूँ। मेरे सिवा कोई दूसरी अविनाशी वस्तु है ही नहीं।)

स्वभावतः भगवान् विष्णु ने सोचा—उनके अन्तर्मन के प्रश्न का उत्तर देने वाला कौन है—स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक ?

विष्णु को क्या उत्तर मिला ? एक शिशु के प्रश्न का क्या उत्तर है ? माँ ही न ?

पुरुष भी यदि संप्रश्न है तो स्त्री ही तो उसका उत्तर है। जब तक वह संप्रश्न नहीं, उसकी स्त्री या पुरुषात्मक सत्ता तो अप्रकट ही है न ?

मैत्रेयी के अध्ययन और शोध की पराकाष्ठा इसी में है। वह उत्तर बन सकती है। वह उत्तर ही तो है सारी प्रश्नावलियों का।

यह क्या, मैत्रेयी तो जैसे असमय में ही बुढ़ा गयी है। एक किशोरी कन्या मातृत्व के इस अनबूझे भार को ओढ़कर कैसे अपनी यात्रा के आरम्भ के पूर्व ही उसका द्वार ढाँप रही है ! आखिर क्या देखा है उसने ?

पर उसे तो यह भी पता नहीं है कि कितना जान सकती है वह, कितना जानना होगा उसे और क्या वास्तव में जानना ही होगा उसे ?

काश ! मैत्रेयी की माँ जीवित होती तो शायद वह इस सम्बन्ध में कुछ अधिक जान सकती थी। पर विधाता को यह स्वीकार कहाँ था ? उसने तो जैसे उसे विराट् विपिन में एकाकी ही छोड़ा है—उसे इसमें अकेले रहते हुए अपनी आत्मरक्षा भी करनी है और सही मार्ग का चुनाव कर अपनी लक्ष्य सिद्धि के साथ-साथ सारी नारी जाति के लिए उपयुक्त पथ भी प्रशस्त करना है।

क्यों बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष और साधु मैत्रेयी के कुछ प्रश्न पूछने या शास्त्रोल्लेख करने पर उसकी आँखों के भीतर कहीं और गहरे उतरना चाहते हैं ? शायद वे यह अनुमान ही नहीं कर पाते हैं कि एक स्त्रीमूर्ति से इतना दुष्कर संदर्भ उद्भूत भी हो सकता है। या फिर उनका ध्यान उसकी बुद्धि और मस्तिष्क की ओर न जाकर कहीं उसकी देह में ही भिद जाना चाहता है। संभवतः इसी से वे उसकी बात का तत्काल कोई सीधा-सा उत्तर नहीं दे पाते हैं।

क्या उनके लिए नारी एक देह ही है, मन नहीं, मस्तिष्क नहीं, बुद्धि नहीं ?

शायद नारी ने भी सदा से इसी अध्यारोपित नियति को अंगीकार कर लिया है, इसीलिए उसने अपनी रूप-सज्जा में ही अपने अस्तित्व की सारवत्ता को समेट लिया है। किसी में यदि विचार और बुद्धि का एक स्तर भी रहा है तो उसने उसका उपयोग एक पुरुष की छाया बन जाने के आत्मानुशासन में ही किया है। अनुसूया, अरुन्धती, मदालसा या देवहूति अपनी बौद्धिक क्षमताओं और आत्मज्ञान के क्षेत्र में किसी तपःपूत पुरुष से कहाँ कम थीं, किन्तु उनके अस्तित्व की सिद्धि जैसे उनके महासतीत्व में ही सिमट कर रह गई है।

मैत्रेयी को यह नियति स्वीकार नहीं होगी। उसकी माँ यदि आज जीवित होती तो वह सबसे पहले उसी से पूछती—माँ इस अप्राकृतिक अधीनता और पारंपरिक

समर्पण द्वारा स्त्री युगों-युगों से अपने व्यक्तित्व को विसर्जित ही तो कर रही है? सच, तू ही बता, अपनी बेटी को तू क्यों बेवश देखना चाहेगी?

पर उसकी माँ कहाँ है? उसकी उसे याद भी कहाँ है? उसके पिता तो बताते हैं कि उसकी माँ उसे एक वर्ष का छोड़ गई थी। तब से उसके पिता ही उसे अपने आश्रम की एक धरोहर के रूप में पालते रहे हैं।

मैत्रेयी जैसे-जैसे बड़ी हुई है, उसकी प्रातिभ पैनी दृष्टि, आक्रामक स्वर और असहिष्णु संवाद उसके समवयस्कों को उससे दूर ही छिटकाते हैं। महीनों और सालों तक मंत्र और ऋचाओं की रटन्त विद्या में डूबते-तिरते निरीह युवक अपनी संभावनाओं के प्रति उसे विस्मित ही करते थे। आखिर उनमें कहीं भी ऐसा कुछ कहाँ था जो उसे आकर्षित कर आबद्ध करता? मैत्रेयी को कभी-कभी लगता था कि वह केवल स्वयं के लिए ही बनी है। जैसे उसे एक पुरुष-विहीन नारी जीवन जीकर ही स्त्री जीवन की एकान्त पूर्णता प्रतिपादित करनी है।

ऋषि वचक्नु मैत्रेयी की भावधारा से परिचित थे। वे जानते थे कि मैत्रेयी के लिए किसी वर की खोज की चेष्टा ही व्यर्थ है। संभव है मैत्रेयी विवाह ही न करे। अल्पवय से ही उसकी प्रतिभा और ज्ञान-शक्ति की सुकीर्ति चारों ओर फैल चुकी है। अब वह स्वयं ही अपने भाग्य का निर्णय कर सकती है। इस दिशा में उनका हस्तक्षेप, परामर्श अथवा चर्चा मैत्रेयी की क्षमताओं पर प्रश्नचिह्न ही लगायेगा तथा इसके बाद उन्हें उससे लम्बे परिवाद में उलझकर अंत में अपनी पुत्री की ही बात माननी पड़ेगी। इतना अवश्य है कि वह जो भी इस संबंध में जब भी निर्णय लेगी, उचित ही होगा।

बालाकि ने अवश्य पिता को अनेक बार चेताने की चेष्टा की—मेरे विचार से तो तात मैत्रेयी का शीघ्र ही किसी राजकुल में विवाह कर देना उचित होगा। उसकी उग्र आक्रामकता के रहते कोई ऋषिकुल तो उसे ग्रहण करने को तत्पर नहीं होगा। फिर आपकी पुत्री की वैदग्ध वाक्पटुता किसी राजभवन की गरिमा के ही अधिक निकट प्रतीत होती है।

वचक्नु ने कोई उत्तर नहीं दिया। ये जो सगे भाई-बहिन हैं, भीतर ही भीतर ऐसे असहिष्णु प्रतिद्वन्द्वी भी हो सकते हैं, यह उनके अनुमान में भी कठिन पड़ता था। यूँ सदा इन्हें प्रतियोगियों की तलाश रहती है, किन्तु ये परस्पर प्रायः मौन ही रहते हैं। यदि बालाकि की माँ होती तो शायद वह बालाकि को उसकी भगिनी के प्रति असहिष्णु होने के लिए उसे डाँटती, शायद उसके सुझाव को बहुत उचित मानकर उसके अनुसार मैत्रेयी के लिए वर की खोज का आग्रह करने लगती। किन्तु वह कहाँ है? शायद उसका न होना ही उचित था। क्या पता मैत्रेयी उसकी चौकसी में जीवन व्यतीत करके सारे शास्त्रज्ञान और शास्त्रज्ञों में परम विदुषी के रूप में विख्यात ही न हो पाती।

विधाता ने संभवतः उनकी बेटी को मातृहीना इसीलिए छोड़ा हो ताकि वचक्नु उसे न केवल अपनी पत्नी की प्रतिच्छाया के रूप में देख सकें, अपितु उसमें नारी मात्र

की स्वाभाविक गरिमा की प्रतिष्ठा भी कर सकें। वे जानते हैं कि पत्नी में जहाँ पति के प्रति एक प्रतियोगिता का भाव काम करता है, वहीं पुत्री चूँकि अंततः पुत्री ही है, अतः पिता के प्रति उसका भाव सहयोगी और स्वीकारात्मक होता है। उनमें परस्पर भी अधिक धैर्य, सहिष्णुता और प्रशंसा का भाव काम करता है। शायद यही कारण है कि मैत्रेयी का विवेक वचक्नु की आकांक्षा के ही अनुकूल हुआ है। अतः वे इस बात से भी आश्वस्त हैं कि मैत्रेयी में एक साधारण संसारी स्त्री की भाँति जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु यदि कभी वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश का निर्णय भी लेती है, तो उसके वर का चुनाव भी विशिष्ट ही होगा।

● ● ●

वीतराग राजा जनक ने एक अभिनव ज्ञान-यज्ञ का अनुष्ठान किया है। इस यज्ञ में उनके द्वारा श्रेष्ठतम विचारक और वक्ता को एक सहस्र गायों के दान का संकल्प किया गया है। इसमें से प्रत्येक के सींगों में दस-दस पाद सुवर्ण बँधा हुआ है।

इस अनूठी प्रतियोगिता में कुरू और पांचाल देशों के श्रेष्ठ विद्वान् एकत्र हुए हैं। मैत्रेयी को प्राप्त राजमुद्रा से मंडित इस निमंत्रण-पत्र में लिखा है—'यह अनुष्ठान अभिनव है। इसमें सामान्यतया समस्त भूमण्डल के श्रेष्ठ विद्वानों को आमंत्रित किया गया है, किन्तु स्वीकृति सूचनानुसार कुरु और पांचाल देशों के विद्वान् विशेष रूप से बड़ी संख्या में उपस्थित हो रहे हैं।

आप वर्तमान प्रखर पाण्डित्यपूर्ण भारत की एक सम्मानित विदुषी हैं। इस आयोजन में आपकी उपस्थिति मुझ अकिंचन को निश्चित ही गौरवान्वित करेगी।'

बालाकि ने मैत्रेयी को चिढ़ाते हुए कहा—'अंततः तुम्हें जनक की विद्वत् परिषद् का आमंत्रण मिल ही गया। मैंने सुना है कि इस आयोजन के प्रस्तावक आचार्यगण बहुत पूर्व से ही इस प्रतियोगिता में सफलता की तैयारी कर रहे हैं। मेरा तो परामर्श है कि तुम्हें इसमें उसी स्थिति में भाग लेने का निश्चय करना चाहिए जब तुम पूरी तरह से यह ज्ञात कर लो कि इसमें कौन-कौन ऋषि और आचार्य आ रहे हैं।'

मैत्रेयी ने बालाकि के ऊपर से एक फिसलती हुई दृष्टि वचक्नु पर गड़ाई। वचक्नु जानते थे कि मैत्रेयी अपने निश्चय से डिगने वाली नहीं है। बालाकि को भी विदित ही था कि मैत्रेयी पर उसकी सलाह का कोई असर नहीं होना है। अतः मैत्रेयी को उसके सुदीर्घ यात्रा-पथ से किसी ने विचलित करने का विचार नहीं किया।

मैत्रेयी को राजा जनक की इन स्वर्ण श्रृंग मंडित सहस्र गायों से आखिर क्या लेना है ? उसका कोई परिवार या आश्रम तो है नहीं कि उसे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। फिर वह यहाँ इस प्रलोभन प्रतियोगिता में क्यों खड़ी है—मैत्रेयी ने जनक के इस अभिनव आयोजन में उपस्थित होने पर सोचा। उसे चारों दिशाओं में अपने-अपने असंख्य शिष्य समुदाय से घिरे हुए अनेक आचार्य और ऋषि समूह दिखाई दिये। यह शिष्य वर्ग दक्षिणा में प्राप्त होने वाली गायों के स्वास्थ्य, उनकी सुडौलता और

उनके श्रृंगों के स्वर्ण की मात्रा का अनुमान लगाता प्रतीत होता था। उनके आचार्यों की दृष्टि स्वभावतया अपने प्रतियोगियों पर केन्द्रित थी। जैसे इनमें से प्रत्येक ने अपनी श्रेष्ठता के अपने ही मानदण्ड तय कर रखे थे और उस अनुमान से इस विद्वत् सभा में उसको ही समस्त गोधन प्रदान किया जाना चाहिए। निश्चित ही कोई अपनी विशाल केशराशि में, कोई आकर्ण विस्तीर्ण अपने श्वेत श्मश्रु और कोई अपनी विराट् काया में स्पंष्ट ही अति विशिष्ट प्रतीत होता था।

विशाल मण्डलाकार सभामण्डप में एकाकी मैत्रेयी क्या समस्त ऋषि समूह को चुनौती देगी? कुछ ऋषियों के साथ बैठी हुई ऋषि-पत्नियाँ उसे कहीं और भी अधिक कठोर दृष्टि से देख रही थीं। जैसे वे कहना चाह रही थीं, तुम एक ही पहिये से कोई रथ खींचना चाहती हो मैत्रेयी! तुम अपनी शक्ति-धारा को किसी तीव्रतर प्रवाह में क्यों नहीं छोड़ देती?

क्या इन सब परास्त और तिरोहित नारी मूर्तियों की भाँति मैत्रेयी भी अपूर्ण है? क्या नारी मात्र ही अपूर्ण है? और क्या पुरुष सचमुच ही पूर्ण है?

यह मिथ्या है, यह मिथ्या है, मैत्रेयी ने मन ही मन पूरी शक्ति से कहा। एक निर्गुण, निराकार, निरवयव और उपाधि रहित ईश्वर की दृष्टि में ऐसा पक्षपात नहीं हो सकता। यह अच्छा ही है कि इस पुरुषप्रधान समाज की चुनौती के रूप में मैं यहाँ उपस्थित हूँ। अब तक स्त्री ने पुरुष के प्रति यदि समर्पण किया है तो यह उसकी प्रकृति, प्रवृत्ति और धर्म हो सकता है। इसे उसकी अशक्तता कैसे माना जा सकता है? किन्तु विडम्बना यह है कि स्वयं नारी भी इसे अपनी नियति मानकर अब तक पुरुष वर्ग से छली जाती रही है। यह सब जानते हुए, पहचानते हुए वह कैसे भुलावे में आ सकती है।

मैत्रेयी को राजा जनक के उद्घोषक का उच्च स्वर सुनाई दिया—

'पूज्य ऋषीश्वर, आचार्य, ब्राह्मण और विद्वत् वर्ग। विदेहराज जनक की यह ज्ञान-ग्राही सभा सभी समागतों का स्वागत करती है। आप सभी को विदित है कि पूर्ण वीतरागी हमारे महाराज ने कर्मयोग की ज्ञानयुक्त फलश्रुति का निरन्तर आस्वाद किया है, किन्तु ज्ञान की अंतिम परिणति ब्रह्मवेत्ता होना है, जो सर्वथा अनिर्वचनीय है, उसे अनुवचन द्वारा कैसे प्रकट किया जा सकता है? किन्तु वास्तविक ज्ञानी की कसौटी भी संभवतः इसके अतिरिक्त दूसरी नहीं। अतः महाराज ने क्षमायाचना सहित यह आयोजन किया है। यद्यपि ज्ञान की इस अतुल संपदा की तुलना में महाराज का संपूर्ण राज्य वैभव तो क्या 'त्रैलोक्य का राज्य भी तुच्छ है, किन्तु प्रतीक के रूप में ये एक सहस्र स्वर्ण श्रृंग मंडित गायें दक्षिणा के रूप में हैं।'

उत्सव की इस महत्त्वपूर्ण राजघोषणा के समय मण्डप में जितनी अपूर्व निस्तब्धता छाई उतने ही वेग से इसके बाद ऋषियों की हुंकार, आचार्यों का स्वरोच्चार और उपस्थित जनसमुदाय का कौतूहलपूर्ण कोलाहल सुनाई देने लगा। पूरे वातावरण में एक क्षण के लिए विचित्र-सी ऊष्मा भर गई और ऐसा लगने लगा कि किसी भी क्षण

कोई उबाल आ जायेगा, किन्तु अकस्मात् जैसे उपस्थित सभी महानुभाव कुछ प्रतीक्षा-सी करने लगे। सब एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे और उनका ध्यान उस अज्ञात चुनौती-दाता की ओर था जो ब्रह्मवेत्ता का दावा करते हुए उपस्थित विद्वानों को शास्त्रार्थ की चुनौती दे रहा हो।

मैत्रेयी ने देखा कि सभा के दूरस्थ किनारे पर स्थित एक युवा आचार्य अपने शिष्य को गायें हाँक ले चलने का संकेत दे रहे हैं। यह अत्यन्त विस्मयकारी दृश्य था। क्या इतनी जल्दी इस युवा आचार्य को ब्रह्मज्ञ घोषित कर दिया गया है? किन्तु ऐसी घोषणा तो किसी ने भी नहीं सुनी है। किसी प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् ने उनका ब्रह्मज्ञ होना स्वीकार कर लिया है, यह भी उनके आस-पास उपस्थित विद्वानों के भाव से प्रतीत नहीं होता था।

मैत्रेयी को इस युवा तापस में अपूर्व तेज और आत्मविश्वास की झलक मिल रही थी। कर्पूर धवल धोती और उत्तरीय में सिमटे इस धीरोद्धत ब्राह्मण के श्याम केश पृष्ठ भाग को ढँकते-से थे किन्तु अल्पश्मश्रु जैसे इसके आचार्य पद की अल्प अवस्था का ही परिचय दे रहे थे। अकस्मात् खड़े होकर जब उसने अपने शिष्य सामश्रवा को गायें हाँक ले चलने का आदेश दिया तो उसमें एक विजेता जैसा अपूर्व विश्वास स्पष्ट झलक रहा था। मैत्रेयी को लग रहा था कि यदि यह तपस्वी अपने इस आचरण के प्रति सचमुच ही गम्भीर है, तो एकसाथ इतनी बड़ी चुनौती देकर वह अपने ऊपर भीषण आक्रमण को ही आमंत्रण दे रहा है। क्या मैत्रेयी उसे ऐसा करने से अपवर्जित करे?

राजा जनक के निकटस्थ एक प्रखर पुरुष विचलित हो रहा है—

'मैं महाराज जनक का होता अश्वल हूँ। हे याज्ञवल्क्य, कृपया बतायें कि क्या आप ब्रह्मज्ञानी होने का दावा करते हैं?'

'ब्रह्मिष्ठ को हम नमस्कार करते हैं' याज्ञवल्क्य कह रहे हैं, 'इस समय तो हम गायों की इच्छा रखते हैं, इसलिए गायें ले जा रहे हैं।'

यह कोई बात हुई? याज्ञवल्क्य को तो बड़ा विवेकयुक्त माना गया है। क्या वे बिना किसी कारण और आधार के इस प्रकार का स्वेच्छाचारी आचरण कर सकते हैं?

मैत्रेयी को साफ दिख रहा है कि याज्ञवल्क्य के चेहरे पर किसी प्रकार की दुविधा नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अपने ज्ञान की श्रेष्ठता का कोई बोध उन्हें गर्वोन्नत कर रहा था। उनके इस व्यवहार में कुछ आश्चर्यजनक स्वाभाविकता थी। किन्तु ऐसी ही चेष्टा करने से प्रत्येक अन्य व्यक्ति क्यों रुका हुआ था? यदि सभा में उपस्थित अन्य प्रत्याशी भी अपने शिष्यों को गायें हाँक ले चलने का इसी प्रकार का आदेश दे दें तो क्या इन महात्माओं में भी महाभारत शुरू नहीं हो जायेगा? यद्यपि अन्य किसी में भी इस प्रकार की चेष्टा की कोई पहल परिलक्षित नहीं हो रही है।

नहीं, अश्वल का स्वर चुनौतीपूर्ण है। उसने समझ लिया है कि याज्ञवल्क्य यद्यपि प्रत्यक्षतः ब्रह्मज्ञ का दावा नहीं कर रहे हैं, किन्तु वास्तविक ज्ञान की उनकी आत्मानुभूति ही उनके इस चुनौतीपूर्ण आचरण की पृष्ठभूमि में है। अतः उनकी परीक्षा का अवसर उपस्थित हो चुका है। महाराज जनक के प्रधान होता होने के कारण उसका यह प्रमुख कर्तव्य और अधिकार भी है कि वह वेदों के कर्मकाण्ड पक्ष सम्बन्धी अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर याज्ञवल्क्य के ज्ञान की परीक्षा करे। इसने अन्य अनेक तटस्थ प्रत्याशियों को सावधान कर दिया है। याज्ञवल्क्य का शिष्य सामश्रवा गायों को हाँक ले जाने से उपरत हो रहा है। याज्ञवल्क्य भी जैसे शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हो गये हैं।

'याज्ञवल्क्य जी', अश्वल ने कहा, 'मृत्यु, दिनरात्रि, चन्द्ररात्रि और आकाश सर्वव्यापी और सर्वसमाहर्त्ता हैं। कृपया बतायें कि यज्ञ करने वाला इनकी पकड़ से कैसे मुक्त होता है?'

'एक याज्ञिक का होता वाणी अग्नि अध्वर्यु, दृष्टि सूर्य, उद्‌गाता प्राण वायु और ऋत्विक् मन ब्रह्म होता है। अतः यज्ञ करने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य वाला होता है।'

याज्ञवल्क्य तो यज्ञ-कर्म के प्रवक्ता विशेष हैं ही, अतः उनसे यज्ञ की प्रधानतायुक्त व्यवस्था प्रत्याशित थी, किन्तु क्या इससे सर्वज्ञता संबंधी इस प्रतिस्पर्धा में वे विजयी सिद्ध हो सकते हैं?

अश्वल के मौन होते ही ऋषि समूह में से जरत्कारु गोत्र वाले आर्त्तभाग उठकर याज्ञवल्क्य की ओर उन्मुख हुए हैं।

'हे याज्ञवल्क्य!' आर्त्तभाग पूछ रहे हैं, 'मृत्यु सभी का परिसमापन करती है। क्या ऐसा भी कोई देवता है जो मृत्यु को भी मृत्यु प्रदान करता हो?'

आर्त्तभाग बहुत चतुर है, मैत्रेयी सोच रही है। मृत्यु का विनाशक देवता है अथवा नहीं है, दोनों ही उत्तर अपूर्ण होंगे। यदि मृत्यु ही सनातन है तो मुक्ति की संभावना समाप्त होती है और यदि मृत्यु संहारक किसी देवता का नामोल्लेख होता है तो फिर एक अटूट शृंखला ही बनती जायेगी तथा मृत्यु से छुटकारे का प्रश्न गौण हो जायेगा।

'मृत्यु कुछ नहीं अग्नि है।' याज्ञवल्क्य आर्त्तभाग के द्वारा फेंके हुए जाल को एक झटके में ही तोड़ देते हैं। 'जल अग्नि को मृत्यु प्रदान करता है। जल ही ब्रह्म है। ब्रह्म ही सर्वान्तक है।'

'जब एक ब्रह्मज्ञानी मनुष्य मरता है तो ऐसा वह क्या है जो उसे मृत्यु के बाद भी नहीं छोड़ता?'

'उसका नाम! नाम विश्वेदेवों की ही तरह अनन्त है। जिस मनुष्य को यह ज्ञात है वह समस्त विश्व का नियंत्रक हो जाता है।'

क्या याज्ञवल्क्य का आशय साधारण लौकिक नाम से है—मैत्रेयी सोच रही है। कदापि नहीं। मैत्रेयी जानती है आखिर एक नाम में धरा क्या है? आर्त्तभाग का भी समाधान अभी शेष है। उनका आगे का प्रश्न स्पष्ट सुनाई दे रहा है—

'एक मृत व्यक्ति की वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, दृष्टि सूर्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, हृदय आकाश में, रोमावलि औषधियों में, केशराशि वृक्षों में और रक्त जल में मिल जाता है। इसके अनन्तर मृतक व्यक्ति का आश्रय क्या हो सकता है।'

'नहीं आर्त्तभाग नहीं,' याज्ञवल्क्य का उच्च स्वर सुनाई दे रहा है। 'इस प्रश्न का उत्तर सार्वजनिक नहीं है। प्रियदर्शन! तू मुझे अपना हाथ पकड़ा, हम दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर जानेंगे।'

याज्ञवल्क्य और आर्त्तभाग ने एकान्त में क्या बात की है? क्या याज्ञवल्क्य ने आर्त्तभाग के पूर्व प्रश्न के उत्तर में उस 'नाम' का रहस्य उद्घाटित किया है जो मनुष्य के मर जाने पर भी उसे नहीं छोड़ता है?

मैत्रेयी को आर्त्तभाग की स्वीकारोक्ति सुनाई दे रही है—

'मैं ब्रह्मज्ञ याज्ञवल्क्य जी की स्थापनाओं से सहमत हूँ। उनसे एकान्त में विचार-विमर्श के पश्चात् मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि कार्यकरण संघात कर्म जनित ही है। हमारे पुण्य या पाप कर्म ही अन्ततः शेष रह कर हमें नहीं छोड़ते हैं और भावी जीवन-शृंखला का आधार बनते हैं।'

अब लह्य ऋषि का पौत्र और लाह्य का पुत्र लाह्यायनि भुज्यु अपने स्थान पर खड़ा हो गया है। आर्त्तभाग के मौन बैठ जाने पर एकाधिक ऋषि उठने की चेष्टा कर ही रहे थे कि रहस्य आभा से युक्त यह युवा संन्यासी सायास आगे बढ़ आया है। मैत्रेयी उसके आश्वस्त स्वर के साथ-साथ याज्ञवल्क्य के प्रति उसकी किंचित् उपेक्षापूर्ण दृष्टि भी देख रही है।

'याज्ञवल्क्य जी, मैं मद्रदेश में घूमते हुए कपिगोत्रोत्पत्र पतञ्चल के घर पहुँचा था', लाह्यायानि भुज्यु ने कहा। 'उसकी पुत्री आंगिरस सुधन्वा गन्धर्व के आवेश में थी। मैंने उससे यह प्रश्न पूछा था कि परीक्षित कहाँ रहे। वही प्रश्न मैं आज आपसे पूछना चाहता हूँ।'

याज्ञवल्क्य उत्तर दे रहे हैं—'उस गन्धर्व ने निश्चित ही आपको बताया था कि परीक्षित वहीं गये हैं जहाँ अश्वमेध करने वाले जाते हैं। आप पूछेंगे कि अश्वमेधायज जी की यह यात्रा किस प्रकार पूर्ण होती है तो उसका रहस्य यह है कि यज्ञाग्नि इन परीक्षितों को वायु को सौंपती है तथा पश्चात् वायु उनका यथास्थान के लिए संवहन करता है। वस्तुतः वायु ही व्यष्टि और वायु ही समष्टि है।

'व्यष्टि रूप में वायु सभी स्थावर-जंगम प्राणियों की अंतरात्मा और बाह्य रूप में उनकी गति और व्याप्ति दोनों हैं। वास्तव में इस रहस्य का तत्त्वतः ज्ञान हो जाने पर जीव पुनर्मृत्यु को ही जीत लेता है।'

कौन हैं ये परीक्षित, मैत्रेयी सोच रही है। इन्होंने कौन-सी परीक्षा उत्तीर्ण की है? कितने लोग यह समझेंगे कि वास्तव में कर्म की परीक्षा कर्म न होकर ज्ञान है।

क्या कर्मजन्य प्रारब्ध-संस्कार का संपूर्ण क्षय ही 'परीक्षित' अवस्था नहीं है? मनुष्य की मुक्ति-पुनर्मृत्यु पर विजय आखिर संस्कार शून्य हुए कैसे संभव है? और भविष्य में कहीं ऐसा न हो कि परीक्षित का वाच्यार्थ पाण्डव अर्जुन के पौत्र परीक्षित के वंशज निकाला जाकर जनक को 'परीक्षितों' का ही उत्तरवर्ती सिद्ध किया जाने लगे।

अच्छा, अब चक्र के सुपुत्र उषस्त प्रश्न पूछ रहे हैं—

'याज्ञवल्क्य जी, यदि आप ब्रह्मवेत्ता हैं तो अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा की स्पष्ट व्याख्या कीजिए।'

'जो प्राण से प्राण, अपान से अपान, व्यान से व्यान और उदान से उदान क्रिया करता है तुम्हारा वही आत्मा सर्वान्तर है।'

'यह कोई व्याख्या हुई?' उषस्त प्रायः हँसी उड़ाते हुए कह रहा है। 'क्या एक बैल की इतनी परिभाषा कि जो चलता है पर्याप्त है? क्या यह कहने से किसी का समाधान हो सकता है कि घोड़ा वह है जो दौड़ता है? यदि आप सचमुच ही समर्थ हैं तो ब्रह्म और आत्मा की स्पष्ट व्याख्या करें।'

'उषस्त!' याज्ञवल्क्य का गंभीर स्वर सुनाई देता है। 'तुम दृष्टि के दृष्टा को तो देख नहीं सकते! श्रुति के श्रोता को तो सुन नहीं सकते! मति के मन्ता का तो मनन नहीं कर सकते! और विशति के विशता को तो जान नहीं सकते! तथापि सभी कारण, कार्य और क्रिया में जो सर्वदा समान रूप से विद्यमान है, वही सर्वान्तर आत्मा और अपरोक्ष ब्रह्म है। इससे भिन्न कार्यभूत पदार्थ मात्र नश्वरता है।'

अद्‌भुत् है! मैत्रेयी मन ही मन कह रही है। उधर उषस्त में कुछ आगे पूछने की चेष्टा दिखाई नहीं दे रही है। कुषीतक-पुत्र कहोल अवश्य इससे संतुष्ट प्रतीत नहीं हो रहा है। वह उषस्त के प्रश्न को यथावत् ही दुहराता है—

'याज्ञवल्क्य! जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।'

मैत्रेयी पुनः सोचती है—जो अपरोक्ष है और जो सर्वान्तर है उसकी इस प्रकार की सापेक्षित व्याख्या क्या योग्य है? संभवतः कहोल भी इसे समझता है। किन्तु उसका मुख्य ध्येय तो याज्ञवल्क्य के ज्ञान की परीक्षा है। अतः याज्ञवल्क्य के उत्तर को ध्यान से सुना जाना चाहिए।

'सर्वान्तर ब्रह्म भूख, प्यास, शोक, मोह से परे है। उसे जानने के पश्चात् मनुष्य पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा से ऊपर उठता है। मनुष्य को इस आत्मज्ञान का बल और पाण्डित्व ही ब्रह्मत्व प्रदान करता है। इससे जो भिन्न है वह सब नाशवान ही है।'

कहोल चुप हो गया है, किन्तु वचक्नु-पुत्री गर्ग गोत्रीय मैत्रेयी सोच रही है— उषस्त और कहोल के सर्वान्तर आत्मा संबंधी प्रश्न का याज्ञवल्क्य द्वारा दिया हुआ उत्तर मनुष्य के लोक व्यवहार और आचरण से सम्बन्धित है। अभी तक किसी ने भी याज्ञवल्क्य से सर्वान्तर के सम्पूर्ण ज्ञान के लिए सृष्टि विस्तार संबंधी चर्चा नहीं की है। अब संभवत: उसके पूछने का समय आ गया है।

याज्ञवल्क्य ने भी उसकी समुत्सुक और लक्ष्यभेदी दृष्टि की ओर एकाधिक बार ताका है, किन्तु किसी अन्य दिशा से होने वाले आक्रमण ने बलात् उन्हें उसकी ओर से उपरत किया है। अब उनकी दृष्टि यद्यपि कहीं शून्य में छिटकी है, किन्तु अन्दर का कोलाहल जिस ध्वनि की प्रतिक्रिया है, उसे वे चेष्टापूर्वक सुनना चाह रहे हैं—

'याज्ञवल्क्य!' अब तक के सम्बोधनों से एक सर्वथा भिन्न स्वर याज्ञवल्क्य के श्रवण रन्ध्रों की शृंखला खोल रहा है। यह आवाज उसी अदृश्य दिशा की है जो उन्हें बहुत देर से समाकृष्ट कर रही थी—

'याज्ञवल्क्य जी, समस्त भूमण्डल जल में ओत-प्रोत है, किन्तु जल का आधार क्या है?'

'वायु'। याज्ञवल्क्य का उत्तर है। मैत्रेयी जानती है याज्ञवल्क्य पंचभूतों के उत्तरोत्तर व्यापक और सूक्ष्म भाव से कारण रूप तक की यात्रा कराना चाहेंगे। यही तो उनकी परीक्षा है।

'वायु किसमें ओतप्रोत है?'

'अंतरिक्ष लोक में।'

'अंतरिक्ष लोक?'

'गन्धर्व लोक में।'

'गन्धर्व लोक?'

'आदित्य लोक में।'

'आदित्य लोक?'

'चन्द्रलोक में।'

'चन्द्रलोक?'

'नक्षत्र लोक में।'

'नक्षत्र लोक?'

'देवलोक में।'

'देवलोक?'

'इन्द्रलोक में।'

'इन्द्रलोक?'

'प्रजापति लोक में।'

'प्रजापति लोक?'

'ब्रह्मलोक में।'

'ब्रह्मलोक में.......................?'

शृंखला तो टूटनी ही है और वही याज्ञवल्क्य की प्रतीक्षा भी है, किन्तु क्या मैत्रेयी को इसे इस सीमा तक खींचना अभीष्ट था? पर अब वह जब प्रश्न पूछ ही चुकी है और पूर्व वेग से याज्ञवल्क्य का कोई उत्तर प्राप्त नहीं है, अतः अब वह याज्ञवल्क्य की ओर भरपूर प्रश्नात्मक दृष्टि उड़ेल सकती है।

यह क्या? याज्ञवल्क्य की यह व्यग्रता, यह बेचैनी क्या उनके असुरक्षित होने का परिचय देती है?

'हे गार्गी! तेरा शिर तो नहीं घूम गया है? तू भूल रही है कि सहसा तूने अति प्रश्न पूछ लिया है। यह उचित नहीं है। अनिर्वचनीय ब्रह्म जो वाणी और व्याख्या से परे है उसके चतुर्दिक आवरण की अनन्त शृंखला भी स्थापित कर क्या उसे जाना जा सकता है? इस अनर्थपूर्ण चेष्टा से तू अपने आपको तेजस्विनी विदुषी नहीं, जड़ बुद्धि ही सिद्ध करेगी।'

अपने पिता वचक्नु, भ्राता बालाकि और विभिन्न ऋषि समूहों में जो कभी निरुत्तर नहीं रही, वही गार्गी आज जड़वत् मौन है। ऐसा क्या है इस तरुण तापस में जो एक के बाद एक विद्वान् को धराशायी कर रहा है। क्या याज्ञवल्क्य अब तक अपना ब्रह्मवेत्ता होना प्रतिपादित कर सके हैं? और यदि सचमुच ही यह स्थापना ही असम्भव है तो वे इस प्रतियोगिता में आगे आए ही क्यों!

किन्तु अब तो इस सभा में उपस्थित सर्वाधिक तेजस्वी वृद्ध आचार्य आरुणि उद्दालक स्वयं अपने स्थान पर खड़े हो रहे हैं। याज्ञवल्क्य उन्हें प्रणाम कर रहे हैं।

'याज्ञवल्क्य तो उद्दालक के शिष्य हैं'—मैत्रेयी को अपने निकटस्थ एक विद्वान् का स्वर सुनाई दे रहा है। क्या अब गुरु और शिष्य में भी शास्त्रार्थ होगा? क्या याज्ञवल्क्य को अपने गुरु को चुनौती देना या उनकी चुनौती स्वीकार करना उचित है?'

'याज्ञवल्क्य! मैं तुमसे जो प्रश्न करने जा रहा हूँ', आचार्य उद्दालक का कथन स्पष्टतः सुना जा सकता है, 'वह तुम्हें मुझसे प्राप्त शिक्षा में नहीं मिलेगा। वस्तुतः यह ज्ञान अलौकिक है। एक समय मैं मद्रदेश में कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्जल के घर रहता था। उसकी पत्नी आथर्वण गन्धर्व से अधिग्रहीत थी। उसने लोक, परलोक और समस्त भूतों को भीतर से नियमित करने वाले बताया और कहा कि जो इस सूत्र को जानता है वह

ब्रह्मवेत्ता, लोकवेत्ता, देववेत्ता, वेदवेत्ता, भूतवेत्ता और आत्मवेत्ता तथा सर्ववेत्ता भी है। क्या तुम उसे जानते हो?'

'आचार्यवर, वायु ही वह सूत्र है। वायुरूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूत समुदाय गुँथे हुए हैं। जिस प्रकार संग्रंथक सूत्र के टूट जाने पर एक मणिमाला बिखर जाती है ठीक वैसे ही वायु-प्राण के टूटने पर मानव शरीर के अंग विस्रस्त हो जाते हैं।'

'याज्ञवल्क्य! उस गन्धर्व ने हमें सर्वान्तरयामी आत्मा का भी परिचय दिया था। क्या तुम उस संबंध में कुछ बता सकते हो?'

'आचार्यपाद, जो पृथ्वी, जल, अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशा, चन्द्रमा, तारा, आकाश, तम और तेज आदि के भीतर है, जिसे ये तत्व नहीं जानते, जिसके ये स्वतः शरीर हैं तथा जो इनके भीतर रहकर इनका नियमन करता है वही अन्तर्यामी अमृत आत्मा है।

'जो समस्त भूतों में स्थित रहने वाला समस्त भूतों के भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं, और जो भीतर रहकर समस्त भूतों का नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इसे अधिभूत दर्शन कहा गया है।

'आध्यात्म दर्शन के अनुसार जो प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान आदि में रहने वाला, इनके भीतर है और जिसे ये स्वयं नहीं जानते किन्तु जो इनका नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखाई न देने वाला किन्तु देखने वाला है, वह सुनाई न देने वाला किन्तु सुनने वाला है, मन का विषय न होने वाला किन्तु मनन करने वाला है और विशेषतया ज्ञात न होने वाला किन्तु विशेष रूप से जानने वाला है, वह तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् है।'

'याज्ञवल्क्य, तुमने सही उत्तर दिया है। मैं तुम्हारी अलौकिक ज्ञान-क्षमता से बहुत प्रसन्न हुआ। आज इस प्रतिनिधि ज्ञान सभा में मुझे इस प्रकार निरुत्तर कर तुमने निश्चित ही अपना गुरुऋण चुकाया है। आज मैं साधिकार यह घोषणा कर सकता हूँ कि भारतवर्ष में तुम्हारे समान विवेकवान कोई नहीं है।'

'आचार्यवर, कृपया आप अपने शिष्य के प्रति स्नेहातिरेक में इस प्रकार का निर्णय स्वतः प्रदान न करें। इस प्रकार की घोषणा तो तभी की जा सकती है जब आज की इस विद्वत् परिषद् में उपस्थित सभी विद्वान् एकमतेन इस प्रस्ताव से सहमत हों। मेरे दो प्रश्न अभी शेष हैं।' तरुण तापसी की आवाज एक बार पुनः याज्ञवल्क्य के चिदाकाश को भेद रही है।

वचक्नवी की दूसरी बार की यह चुनौती सभी को आश्चर्य में डाल रही है। एक-एक कर सभी विद्वान् सिमट कर अपने-अपने स्थानों पर बैठ चुके हैं। इन्हें गार्गी की इस चेष्टा पर अब विस्मय हो रहा है।

'जिस प्रकार काशी या विदेह का एक वीर वंशज प्रत्यंचा चढ़ा दो फल वाले शर हाथ में लेकर युद्ध में खड़ा रहता है', आत्मविश्वास से भरी मैत्रेयी कह रही है, 'वैसे ही मैं इन प्रश्नों को लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ, याज्ञवल्क्य!'

'गार्गी! पूछ, लगता है तुझे अपनी टूटी हुई शृंखला के कुछ सूत्र और मिल गये हैं।'

'याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक के ऊपर है, जो पृथ्वी से नीचे है और जो द्युलोक और पृथ्वी के मध्य में है और जो स्वयं भी द्युलोक और पृथ्वी है तथा जिन्हें भूत, भविष्य और वर्तमान कहते हैं वे सब किसमें ओत-प्रोत हैं?'

'गार्गी, जो द्युलोक से ऊपर, पृथ्वी से नीचे और जो द्युलोक एवं पृथ्वी के मध्य में है और स्वयं भी जो द्युलोक और पृथ्वी है तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य कहते हैं, वे सब आकाश में ओत-प्रोत हैं।'

'आपको सचमुच ही मेरा नमस्कार है। अब मैं दूसरा और अंतिम प्रश्न आपसे यह पूछती हूँ कि यह आकाश अन्ततः किसमें ओत-प्रोत है?'

'गार्गी! इस तत्व को ही ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। वह न मोटा है न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न द्रव है, न छाया है, वह नभ, वायु, आकाश, रस, गंध, नेत्र, कान, वाणी, मन, तेज, प्राण, मुख आदि कुछ भी नहीं है। वह न तो भीतर है और न न ही बाहर है। गार्गी, इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य, चन्द्रमा, दिन-रात, ऋतु-संवत्सर स्थित हैं। गार्गी, जो कोई इस अक्षर को जाने बिना मरता है, वह अत्यन्त दयनीय है और जो इसे जानकर मरता है, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है। यह अक्षर दृष्टि का विषय नहीं किन्तु दृष्टा है, श्रवण का विषय नहीं किन्तु श्रोता है, मनन का विषय नहीं किन्तु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञान है। हे गार्गी! निश्चय ही इस अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है।'

गार्गी! मैत्रेयी क्यों नहीं? याज्ञवल्क्य उसे उसके गोत्र के पद से ही सम्बोधित किये जा रहे हैं। वय में तो वह छोटी है ही, अब बुद्धि में भी वह छोटी सिद्ध हो चुकी है, वे उसे मैत्रेयी कह कर क्यों चुप नहीं कर देते? किन्तु अभी तो उसे ही अपने समाधान की सूचना देना अभीष्ट है।

'पूज्य ब्राह्मण गण! श्री याज्ञवल्क्य निश्चित ही अपराजेय हैं। मैं समझती हूँ कि इन्हें ब्रह्म विषयक वाद में जीत सकने में कोई समर्थ नहीं है।'

● ● ●

मैत्रेयी अपने विश्राम शिविर में गम्भीर विचार निमग्न है। क्या वह याज्ञवल्क्य के तेज से पराजित है, आहत है? उसने जिसने अब तक पुरुषवर्ग से अपने आपको सर्वथा श्रेष्ठ नहीं तो समकक्ष अवश्य माना, क्या अब कुछ न्यून हो गई है? वह इस एक पुरुष विशेष की विजय को पुरुष वर्ग की श्रेष्ठता भी कैसे कह सकती है? किन्तु वह एक

पुरुष क्या उसी के संदर्भ में 'विशेष' हो गया है? कहीं वह भी नारी की सनातन हार (?) का एक अबश पात्र तो नहीं बन रही है?

मैत्रेयी जो गुरुकुल में अपनी संपूर्ण शिक्षा के काल शताधिक छात्र-छात्राओं में सर्वदा प्रथम ही रही, जो अनेक प्रतियोगिताओं और शास्त्रार्थ ज्ञान में प्रत्येक पुरुष प्रतियोगी पर विजय ही प्राप्त कर रही थी, क्या याज्ञवल्क्य से सचमुच ही हार गई है? कहीं उसने याज्ञवल्क्य को सभा में विजित और अपराजेय घोषित कर कोई शीघ्रता तो नहीं कर दी? वह याज्ञवल्क्य से पूछ सकती थी 'अक्षर किसमें ओतप्रोत है?' तब शायद याज्ञवल्क्य गीता से 'अक्षरं ब्रह्म परमं' को उद्धृत कर देते। किन्तु यदि यह उनकी दृष्टि में पुनः अतिप्रश्न हो जाता तथा यदि वे उसके घूमे हुए शिर को एकदम दूर छिटका देते तो उसे अपनी बुद्धि पर कहीं अधिक तरस आता।

किन्तु यह कैसी हार है जो पूर्व की अनेक विजयों से अधिक कमनीय लग रही है? और वह विजेता भी कहाँ जीत का भार ढोता प्रतीत होता था। उसे तो ऐसे लग रहा था कि मैत्रेयी की जय सम्बन्धी घोषणा को जैसे वह कहीं रोक देना चाहता है। जैसे वह कहना चाहता था कि मैत्रेयी उसे विजयी घोषित किये जाने के अभिप्राय से ही प्रश्न किए जा रही थी।

कितना अधिक स्मरण नहीं है अपना अतीत मैत्रेयी को। इतने विस्तार और बारीकियों में उसे याद रख पाना संभवतः उसकी कोई क्षमता विशेष ही होगी। और यह भी कैसी अनहोनी बात है कि कल्पना का पुट केवल भविष्य को ही रंगीनियाँ नहीं देता। हमारा वर्तमान जो प्रायः अनिश्चय, चुनौतियों और इतनी आकांक्षाओं से भरा हुआ है, अतीत के क्रोड़ में पहुँचते ही जैसे सतरंगी हो उठता है। बीते वर्तमान की प्रत्येक दारुण त्रासदी, अवसाद और पीड़ा जैसे हमारे पुरुषार्थ का प्रतिमान बनकर उभर उठती है।

जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ में पराजित मैत्रेयी क्या सचमुच ही पराजित थी? ऐसी पराजय पर तो वह शत-शत विजय वैजयंतियाँ न्यौछावर कर सकती थी। यह तो उसने आज ही जाना था कि हार कर उल्लास जीत के उन्माद से कितना अधिक तरल हो सकता है।

किन्तु याज्ञवल्क्य से उसका यह द्वन्द्व क्या उसकी अपनी अभीप्सा नहीं थी? और क्या पता याज्ञवल्क्य की भी यह कोई अंतरंग चाह रही हो। आखिर आकर्षण के मूल में द्वन्द्व ही क्यों है? कहीं ये एक-दूसरे के पर्याय तो नहीं?

क्या मैत्रेयी की अब तक की चुनौतियाँ, शास्त्रार्थ और वाग्वैदग्ध इस एक आकर्षण बिन्दु के ही विस्तार थे? क्या इसीलिए वह स्वयं भी अपने आपको अपने पिता और अग्रज से सहमत पाते हुए भी किसी अप्रत्यक्ष के प्रवाह में बह जाती थी?

ओफ्, रात दो प्रहर से भी अधिक बीत रही है और मैत्रेयी को नींद के नाम पर आँखें झपकाने का भी मन नहीं हो रहा है। आसपास के शिविरों में इतनी नीरवता है,

किन्तु मैत्रेयी कितने कोलाहल में है। कभी-कभार राजा जनक के प्रहरियों का दूरस्थ पदचाप उसे सुनाई दे जाता है, किन्तु शिविर की शान्ति भंग करने का उन्हें अधिकार नहीं है। नगर के बाह्य प्रदेश में स्थित इन आश्रम शिविरों से कुछ दूर जंगली सियारों की हुआहुआ ध्वनि सुनाई पड़ जाती है। उधर नगर के संभ्रान्त श्वान भी जैसे प्रतिप्रश्न कर देते हैं भौंभौं—क्या हुआ? क्या हुआ?

मैत्रेयी को यह क्या हुआ कि वह इस स्याह रात में अजस्र अभिषेक करती हुई ठिठुरन से दूर किसी अदृश्य ऊष्मा में झुलस रही है। कौन है वह जो उसकी हृदय-वीणा के तारों पर वज्राघात किये जा रहा है? उस पर आसमान में इतने टिमटिमाते प्रकाशदीप भी आखिर वियावान के किसी एकान्त बटोही को क्यों नहीं खोज पा रहे हैं?

अपराजिता मैत्रेयी, आखिर तू हार ही गई न? कितने बार कहा था न तुझे तेरे इस अबोध मन ने कि तू इतना गुमान न कर, पर तेरे सयानेपन ने इसे सुना ही कब? अब जब तेरी बुद्धि और तेरा अहंकार भी तेरा नहीं है तो उस अनसुने मन की मनुहार में ही लगी है न?

क्या अब भी तू मानिनी ही बनी रहेगी? इतनी साँकलों और कपाटों को तोड़कर जब एक अतिथि तेरी देहली पर आकर खड़ा ही हो गया है तो अपने दृष्टिपट को फैल जाने दे ताकि उसके कदमों की आहट तेरे दिवास्वप्न को तुझसे छीनने न पाए।

'गार्गी, ओ मैत्रेयी, इस नीरव एकान्त मध्य रात्रि में कौन-सा दिवास्वप्न देख रही हो?'

यह तो याज्ञवल्क्य का स्वर है। क्या वह फिर से शास्त्रज्ञों के मण्डप में पहुँच गई है?

नहीं, याज्ञवल्क्य के स्वर में एक कमनीयता और सम्मोहन है। यह तो कोई मायालोक है जिसमें वह अनायास ही पहुँच गई है। अब यहाँ उसकी चेष्टा, विचार या बाजी का महत्त्व ही क्या है।

'तुमने सुना नहीं देवि? मैं ऋषि याज्ञवल्क्य स्वतः तुम्हारे सामने उस विजयश्री को तुम्हें लौटाने को व्यग्र हूँ जो आज जनक के सभागार में तुमने मुझे सौंपी।'

आप .... सचमुच आप ऋषिवर। मैत्रेयी आँख क्यों मूँदती है? यदि ऋषि आगे बिना कुछ कहे तेरी दृष्टि से ओझल हो गए तो फिर क्या बचेगा तेरे पास? यह जो अदृश्य का अमृतस्रोत तेरे द्वार पर उमड़ा है उसे सूख मत जाने दे, पगली।

इतने भीषण झंझावात में मैत्रेयी कैसे स्थिर बन खड़ी रहे? यदि उसके पीछे उसे टिक जाने के लिए एक काष्ठ स्तम्भ न होता तब तो वह जैसे गिर ही जाती।

'मैत्रैयी।'

इतनी वाग्विदग्ध वाणी विशारद मैत्रेयी शब्द और स्वरहीन हो गई है। क्या उसके स्फुट निश्वास 'हां श श श ....' की स्वरानुगूँज याज्ञवल्क्य तक नहीं पहुँचा रहे हैं?'

'मैत्रेयी, मुझे क्षमा करना' याज्ञवल्क्य अपने आपको प्रकृतिस्थ कर रहे हैं। मैत्रेयी का दाहिना हाथ जो काष्ठ स्तम्भ को एक भरपूर ऊँचाई तक पकड़े हुए था, अकस्मात् नीचे खिसक आया है। बायाँ हाथ अभी भी उसी ऊँचाई पर स्थिर है। बायाँ पाँव कुछ आगे अपनी एड़ी से दाहिने पाँव के अँगूठे और पहली उँगली के मध्य भाग को चौड़ा कर रहा है।

याज्ञवल्क्य को लगा कि मैत्रेयी की मुकुटाकार केशराशि के ऊपर फणाकार उसका बायाँ हाथ मैत्रेयी को अद्‌भुत मोहकता प्रदान कर रहा है। जैसे चन्द्रमा को आवृत्त करती एक मेघमाला के परे भी एक देदीप्त तारामण्डल उदित हो चला हो। इस रहस्यलोक में याज्ञवल्क्य यदि अपने अस्तित्व को बिसार देता है, तब भी उपलब्धि तो उसी की है।

'ऋषिवर, याज्ञवल्क्य'।

याज्ञवल्क्य को विदित नहीं है कि दूर कोने में टिमटिमाते दीपक की द्युति की प्रतिद्वन्द्विता में मैत्रेयी के दो ज्योति पुञ्जों ने उसके अस्तित्व पर सम्मोहन पाश किस क्षण फेंक दिया है। उसके जीवन के संगीत के इस तार की झंकार तो उसने अब तक सुनी ही नहीं है।

'मैत्रेयी', मैत्रेयी को लग रहा है कि एक उद्दाम वेग उसे सम्पूर्णतया आवेष्टित कर रहा है। क्या इसका प्रतिरोध उसके पास नहीं है? क्या वह इसका प्रतिरोध नहीं करना चाहती?

याज्ञवल्क्य, उसने सुना है, विवाहित हैं। वह तो परपुरुष ही हुए न? एक परपुरुष के प्रति उसमें अनुरक्ति भाव कैसे उचित है। हाँ दैव, अब तू ही निर्वाह कर।

'मैत्रेयी, मैं सचमुच ही लज्जित हूँ, किन्तु यदि इस क्षण तुम्हारे समक्ष उपस्थित न होता, तो मैं कहीं और बड़ी आत्म प्रवंचना में ही रहता।'

याज्ञवल्क्य, हाँ कहिए, कहते जाइए। रुकिए नहीं। यह कदापि न मान लेना कि इसे सुनने के लिए मेरी तत्परता किसी भी प्रकार से न्यून है।

'मैं नहीं जानता कि मेरा यह भाव एकपक्षीय है, अथवा तुम्हारे मन में भी मेरे प्रति अनुराग की सृष्टि हुई है, किन्तु अपना स्कन्ध भार तुम्हारे ऊपर उड़ेलना भी तो अनुचित ही है?'

मैं भले ही अब तक मानती रही हूँ युवाऋषि कि मैं नितान्त भारशून्य हूँ, किन्तु तुम जिस युगसंताप को मेरे शिर पर उद्‌घाटित कर रहे हो, क्या वह तुम्हारे गट्ठर से कम भारी है? और उचित-अनुचित का निदान भी तुम्हें ही करना है, ब्रह्मवेत्ता। इसलिए स्वागत, मन से, तन से, हृदय से, स्वागत।

मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य द्वारा भार उड़ेलने की प्रक्रिया को अपनी दृष्टि को ऊर्ध्व कर क्रमशः झुकाते हुए जैसे दुहराया। अब इतना भारग्रस्त होकर उसकी दृष्टि उठाने की

सामर्थ्य तो शेष नहीं है न ? उधर याज्ञवल्क्य अपने सम्बोधन, उच्छ्वास और दृष्टिप्रहार से मैत्रेयी की जैसे प्रत्यक्ष स्वीकृति की पुनरावृत्ति किए जा रहे हैं।

क्या सचमुच ही मैत्रेयी में उसके प्रति अनुराग भाव उत्पन्न हुआ है ? इतनी कठोर, अनुशासित और वैराग्यमूर्ति क्योंकर याज्ञवल्क्य की रागानुभूति की साक्ष्य देगी ?

'मैत्रेयी, तुम्हारी दृष्टि के उत्थान और पतन ने यद्यपि मुझसे कह दिया है मैं तुम्हें एकबारगी भरपूर निहारकर हृदयस्थ कर रही हूँ। इसके साथ ही मैं उस प्रदेश के द्वार बन्द कर लूँगी। अब जब मुझे चाह होगी, अन्दर ही अन्दर तुम्हें देखूँगी, देख सकूँगी बिना तुम्हें जताए। है न मैत्रेयी ?'

इसका तो अर्थ यही हुआ न याज्ञवल्क्य कि तुम मुझे मेरी भूमिका समझाकर और उसे खुद समझकर मंच पर मुझसे कुछ और ही कहलाना चाहते हो ? नहीं ऋषिवर, नहीं। मैं अपनी भूमिका का निर्वहन तुम्हारे निर्देशन में ही कर रही हूँ। अब मैं इसे तब भी छोड़ नहीं पाऊँगी, जब तुम स्वयं भी निर्देशक से एक दर्शक बन जाओगे।

❖

सामश्रवा

'सौम्य सामश्रवा, इन गायों को हाँक ले चलो।' कितनी निश्चिंतता से ऋषि मुझे आदेश दे देते हैं। उन्हें अच्छी तरह से मालूम है कि इतना शास्त्रज्ञ समुदाय इसी प्रयोजन से वहाँ खड़ा था और ऋषि का ऐसा तटस्थ आदेश उनके क्रोध की अग्नि को और अधिक प्रज्वलित कर रहा था। स्वयं जनक भी चकित थे। उनके सभासदों को लग रहा था कि संभवतः याज्ञवल्क्य ने महाराज जनक द्वारा दी गई चुनौती की ओर ध्यान नहीं दिया है। यह जनक का याज्ञवल्क्य के प्रति कोई श्रद्धार्पण नहीं था कि जैसे उनके आगमन की ही प्रतीक्षा हो रही है। फिर जब इतने विद्वान्, शास्त्रज्ञ और ऋषिश्रेष्ठ वहाँ पधारे थे तो जनक की दान श्रद्धा का घट एक के प्रति ही रीतने को तो जैसे नहीं ही था।

पर सामश्रवा बेचारा क्या करे ? वह तो गुरु की आज्ञा से बँधा हुआ एक जीव है ठीक वैसे ही जैसे राजाज्ञा से बँधी स्वर्णभृंगीय गायें हैं।'

'ठहरिये ऋषि, ठहरिये।' कई स्वर एकसाथ समाश्रवा सुनता है। 'क्या आप ब्रह्मवेत्ता हैं ? संभवतः आपने महाराज जनक की घोषणा की ओर ध्यान नहीं दिया है। इन गायों को ले जाने का अधिकार एक ब्रह्मवेत्ता को ही है। और इतना तो स्पष्ट है ही

कि इतने शास्त्राचार्यों की उपस्थिति में ज्ञानीजन जब तक किसी का ब्रह्मवेत्ता होना स्वीकार नहीं कर लेते हैं, उसके ब्रह्मवेत्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता।'

सामश्रवा को यह सब प्रत्याशित था। अतः वह गायों की ओर यद्यपि उन्मुख हुआ था, किन्तु उसके पग उस दिशा में नहीं उठ रहे थे।

किन्तु वह देख रहा है कि उसके ऋषि आचार्य इस आक्रमण से तनिक भी विचलित नहीं हैं। उन्हें सामश्रवा को दिए गए आदेश में परिवर्तन की किसी भी स्थिति की जैसे परिकल्पना ही नहीं है।

'ब्रह्मवेत्ता को तो हम नमस्कार करते हैं।' याज्ञवल्क्य का यह उत्तर ही सामश्रवा को अटपटा लगा था।

सामश्रवा को इतना विश्वास अवश्य था कि उसके गुरु के ज्ञान की थाह लेना जैसे किसी को भी संभव नहीं है। इतने दिनों की उनकी शिष्यता जब उसे उनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं कर सकी, तो अभी-अभी सामने खड़े इन लोगों की बिसात ही क्या है। इसलिए वह आश्वल, आर्त्तभाग लाह्यानि भुज्यु, उषस्त, कहोल और उद्दालक आदि के प्रश्न और उत्तर की शृंखला में न पड़कर विशाल गोधन सम्पदा को निहारता रहा। देवी कात्यायनी इस अतुल वैभव को प्राप्त कर कृतकृत्य हो उठेंगी। आश्रम के पिछवाड़े जो घना जंगल है, उसे काटकर विशाल प्रांगण में परिवर्तित करना होगा। इतना अपार स्वर्ण-कोष और सहस्र गायें तो बड़े-बड़े जनपदों में भी नहीं होंगी। इनके गोरस प्रवाह और घृत समायोजन से आश्रम में अनेकानेक यज्ञ सम्पन्न किए जा सकेंगे।

किन्तु ज्योंही युवा सुकेशिनी गार्गी याज्ञवल्क्य को चुनौती देने प्रस्तुत हुई, सामश्रवा की चिन्तन धारा में अकस्मात् एक विराम लग गया। जिन ऋषि याज्ञवल्क्य से स्वयं उनके एक आश्रम गुरु श्री उद्दालक भी हार मान गये हों, उन्हें एक गर्विष्ठ युवती शास्त्रार्थ के लिए ललकारे तो यह केवल शास्त्रार्थ नहीं हो सकता। जिस प्रकार बालि में सामने लड़ने वाले शत्रु का आधा बल खींच लेने की सामर्थ्य थी, वह सामर्थ्य किसी पुरुष को पराजित कर देने के लिए एक स्त्री में तो जन्मजात ही है। पता नहीं मेरे गुरु इस सत्य के प्रति सचेत हैं या नहीं, यदि इस महामाया स्वरूपिणी से उन्हें शास्त्रार्थ करना ही है, तो यह कम से कम प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए।

क्या सचमुच ही याज्ञवल्क्य जीत गए? सामश्रवा आश्वस्त नहीं हैं। प्रायः ऐसी विजय के अवसर पर ऋषि के मुखमण्डल पर वैभव की जो छटा निखरती थी, आज उसके स्थान पर ऋषि की दृष्टि में कहीं कुछ बोझ भर गया है। सूर्य के अस्ताचल गमन में अभी काफी समय शेष है, किन्तु विजित गोधन को ले चलने का ऋषि का संकेत ही नहीं हो रहा है। अर्थात् गुरुवर आज फिर से शिविर में ही पड़ाव डालेंगे।

अब कोई सामश्रवा से पूछे कि ऋषि याज्ञवल्क्य जैसे प्रकांड और दिग्विजयी विद्वान् को एक मोहिनी के दो प्रश्न-शर इस प्रकार आहत करेंगे कि जिसे पूरी सभा जीत कह रही हो, सच्चे अर्थों में वह उनकी हार होगी। जब गार्गी अपने इन प्रश्नों को

अचूक तीर कह रही थी, तब भी ऋषि कोई बचाव की मुद्रा में क्यों नहीं आ रहे थे? इस बार अंतिम इन तीक्ष्ण तीरों को छोड़कर जब गार्गी ने अपने तूणीर भी रिक्त कर दिया, तब भी ऋषि गार्गी को अतिप्रश्न की मर्यादा के भीतर ही सहेज रहे थे। इस बार गार्गी का गर्वोन्नत शीश ऋषि की 'अतिप्रश्न' चेतावनी को जैसे उन पर ही उछालते हुए उनकी संज्ञा शून्यता को उकेर रहा था।

अब सामश्रवा यह किससे पूछे कि देवी कात्यायनी जैसी समर्पित धर्मपत्नी के होते हुए याज्ञवल्क्य का व्यतीत हो चुका कैशोर्य यदि फिर कुलाँच भर रहा है तो यह जीत उनके शास्त्र-ज्ञान की है अथवा मानवीय मन के किसी कोने के उस संकल्प की जो सारे भूत और भविष्य को वर्तमान पर न्यौछावर करता चलता है?

क्या सामश्रवा को अब अपने गुरु की आचरण और ज्ञान-मर्यादा में विश्वास नहीं है? नहीं, नहीं, इसके लिए तो उसे अपने आपको धिक्कारना होगा। क्या वह स्वयं कभी इसका निर्णायक बन सकता है? यह तो एक प्रकार का गुरुद्रोह ही हुआ न?

नहीं गुरुवर, मैं अज्ञ, अयोग्य क्या देख और क्या समझ सकता हूँ? कृपया मुझे क्षमा करें। मेरी और परीक्षा न लें। आपकी लीला आप ही जानें। मुझे तो अब गायों को हाँक ले जाने के लिए आपके अंतिम आदेश की प्रतीक्षा है।

● ● ●

कहाँ तो गुरुवर को गायों को बटोर ले जाने की इतनी जल्दी थी कि शास्त्रार्थ की प्रतीक्षा भी नहीं करना चाहते थे, और कहाँ आज शास्त्रार्थ में सर्वोपरि होने के चार दिन बीत जाने के बाद भी आचार्य अपने आश्रम की ओर लौटने को तत्पर दिखाई नहीं दे रहे हैं। उनकी स्थिति कितनी विचित्र हो गई है? वे बहुत ही कम बात करते हैं उससे। उनका नित्य का अभ्यास और अध्यवसाय भी प्रभावित लगता है। उधर देवी कात्यायनी प्रतीक्षा कर रही होंगी। शायद चिंतित भी हों। जनक की सभा विचित्र प्रकार के शास्त्रार्थ प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध है। कहीं वे यह भी न सोच रही हों कि याज्ञवल्क्य की इस शास्त्रार्थ में वही दशा तो नहीं हो गई है जो एक समय अष्टावक्र के पिता कहोल की हो गयी थी। कहीं याज्ञवल्क्य महाराज जनक के चालाक पंडितों के किसी फंदे में तो नहीं पड़ गए हैं? कहीं राजा जनक ने उन्हें किसी परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर बन्दी तो नहीं बना लिया है।

नहीं-नहीं, कात्यायनी ऐसा नहीं सोच सकतीं। वे जानती हैं कि शास्त्रार्थ में याज्ञवल्क्य अपराजेय हैं। उन्होंने जनक की शास्त्रार्थ की शैलियों का अपने विद्यार्थी-काल से ही अध्ययन किया है। वे जनक और उनकी सभा के चतुर पण्डितों के किसी भी व्यूह में नहीं फँस सकते हैं।

सामश्रवा का शिष्य-धर्म उसे यह अनुमति तो नहीं देता कि वह गुरुश्रेष्ठ को माता कात्यायनी और उनकी आशंकाओं का स्मरण कराये और उनसे आश्रम-प्रस्थान का अनुरोध करे। वह राजा जनक के प्रतिनिधियों और पण्डितों के याज्ञवल्क्य के शिविर में

आवागमन की घटनाओं में वृद्धि को उत्सुकता से देख रहा है। जिस प्रकार किसी अत्यन्त गहन विषय पर पुनः शास्त्रार्थ की तैयारी हो रही है। क्या राजा जनक ने किसी और नई शास्त्र प्रतिस्पर्द्धा का आयोजन कर डाला है?

महाराज जनक के इस अभिनव अनुष्ठान में पधारे ऋषि संकुल अस्ताचलगामी सूर्य की सान्ध्यबेला में सन्ध्या, अग्निहोत्र और शास्त्र-चर्चा के आयोजनों की तैयारी में निमग्न हैं, किन्तु सामश्रवा की दृष्टि का केन्द्र ऋषि जनक से प्राप्त वे सहस्र स्वर्ण शृंग मंडित गायें हैं जो आश्रम पहुँच जाने पर वनचर्या से लौट कर अपने पैने खुरों से गोधूलि की धुंध छोड़ती हुई आतीं। जब पश्चिम का सूरज इनके झुंड पर एकबारगी लाल गुलाल बिखेरे तो उसे किसी उत्सव की ही तो याद आयेगी, सामश्रवा का विश्वास है। दिनभर सघन वन प्रांतरों की हरीतिमा और औषधयुक्त वनस्पतियों के सेवन से पुष्ट ये गायें जब अपने बछ़ड़ों के दुलार में दुग्ध कटोरे भरकर छोड़ती हुई चलती हैं, तो सामश्रवा अनुमान कर सकता है कि एक भक्त की प्रार्थना के उत्तर में मातृशक्ति के आगमन का वेग कितना तीव्र हो सकता है।

किन्तु आज तो प्रतीक्षा का दिन देवी कात्यायनी के लिए उत्पन्न हुआ है। ऋषिवर के शिविर से निकलने वाला प्रत्येक आगन्तुक कुछ गम्भीरता लिए हुए आता है। जैसे अन्दर एक और शास्त्रार्थ चल रहा है तथा ऋषि अभी भी अजेय बने हुए हैं। निश्चित ही इस शास्त्रार्थ में इस गोधन से भी अधिक मूल्यवान वस्तु दाँव पर है जिसे प्राप्त कर लेने के प्रति भी गुरुवर उतने ही आश्वस्त हैं।

राजा जनक के निकटवर्ती आचार्य आश्वल शिविर से अभी-अभी बाहर निकले हैं। सामश्रवा ने उनको प्रणाम किया तो वे एक क्षण के लिए ठहर गए।

'सामश्रवा, तुम अपने आचार्यपाद के प्रथम विजय उपहार के साथ अब तक जो प्रस्थान नहीं कर सके हो उसका कारण गुरुमाता के रूप में तुम्हें एक और पुरस्कार की प्राप्ति हो रही हैं।'

'आचार्यश्रेष्ठ, मुझे क्षमा करें,' सामश्रवा ने कहा। 'मैं नहीं समझता कि मुझसे कोई ऐसी धृष्टता हुई है कि जिसके कारण मेरे वरेण्य गुरु महाराज को कोई अयश मिला हो। रही गुरुमाता की बात, तो वे निश्चित ही आश्रम में मेरी और गुरुदेव की तीव्र प्रतीक्षा कर रही होंगी।'

'आचार्य देवी कात्यायनी की बात नहीं कर रहे हैं, सामश्रवा', आचार्य आश्वल के साथ चल रहे उनके एक अनुयायी ने कहा, 'उनका आशय, तुम्हें मैत्रेयी गार्गी के रूप में प्राप्त हो रही दूसरी गुरुमाता से है।'

सामश्रवा स्तब्ध खड़ा हुआ है। अर्थात् ऋषिश्रेष्ठ ने परम विदुषी मैत्रेयी से विवाह करना निश्चित कर लिया है। क्या देवी कात्यायनी जैसी पतिभक्ता पत्नी के होते हुए ऋषीश्वर का यह निर्णय उचित होगा? क्या यह शास्त्र मर्यादानुकूल है? क्या देवि

मैत्रेयी की विद्वत्ता से प्रभावित होकर क्षणिक आवेग में तो नहीं उन्होंने ऐसा कोई निर्णय ले लिया है?

लेकिन वह इन प्रश्नों के उत्तर किससे पूछे? संसार के शेष सारे प्रश्न उसने गुरुदेव से पूछे हैं और पूछने के लिए स्वतंत्र है, किन्तु ये प्रश्न जो सीधे गुरु के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, क्या उसके द्वारा पूछे जाने योग्य हैं?

अभी कुछ ही समय हुआ था। वह युवा ऋषि की गंभीरता, मितभाषिता और मर्यादाबन्ध से अभिभूत और आक्रान्त हो रहा था। किशोरवयस सामश्रवा ऋषि की गार्हस्थिक पहचान से प्राय: विस्मित ही था। उनके साधन, कर्मकाण्ड, अध्यवसाय और प्रकाण्ड ज्ञानी व्यक्तित्व में एक स्त्री, एक पत्नी का भी कोई स्थान हो सकता है, वह यह मानने को प्रस्तुत ही नहीं था। फिर जिस मनीषी ऋषि के आत्मज्ञान की छटा में अज्ञान का तिमिर सदा सर्वदा के लिए विलीन हो गया हो, उसे स्त्री या पत्नी एक पृथक् अस्तित्व या सत्ता के रूप में प्रकट या प्रतीत होगी, सामश्रवा को विश्वास नहीं होता था।

और यहाँ सामश्रवा को द्वितीय गुरुमाता के रूप में मैत्रेयी के उपलब्ध होने का उपालम्भ मिल रहा है। यह सब सामश्रवा की समझ के परे हैं। एक ओर वह अपने गुरु के ज्ञान और उनके आचरण के प्रति असंदिग्ध है पर दूसरी ओर उसे दी जा रही यह सूचना भी परम विस्मयकारी है।

सामश्रवा को ऋषि के शिविर द्वार पर खड़े हुए लगभग एक प्रहर हो गया है, यह आभास उसे तब लगा जब सन्ध्यादि कार्य से निवृत्त होकर ऋषि याज्ञवल्क्य शिविर में प्रवेश के लिए आए। सामश्रवा को इस प्रकार विस्मय विमूढ़ देखकर याज्ञवल्क्य ने उससे पूछा—'सामश्रवा, तुमने आज शाम नित्य सन्ध्या कार्य नहीं किया? क्या किसी की प्रतीक्षा कर रहे हो?'

'नहीं गुरुवर, कोई प्रतीक्षा नहीं कर रहा हूँ, किन्तु मैं स्वयं विस्मित हूँ कि इतनी देर से इस एक ही स्थान पर खड़े रहने में मेरी कौन-सी बेवशी थी। आपसे मैं क्षमा चाहता हूँ पूज्य, मुझसे त्रुटि हुई है।'

ऋषि याज्ञवल्क्य उसके अन्तर के भावों को नहीं समझ पाए होंगे, यह असंभव है उनके लिए। तब वह अपना प्रश्न क्यों उनके सन्मुख नहीं रख देता है, सामश्रवा ने सोचा।

'तुम्हें विस्मित होने की आवश्यकता नहीं है, प्रिय वत्स। मैं तुम्हें स्वयं तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर देने को प्रस्तुत हूँ।'

क्या सामश्रवा सचमुच ही प्रश्न पूछ सकता है? यह तो गुरु के प्रति अविश्वास ही हुआ न? अवज्ञा तो वह कर ही चुका है।

'पूज्यवर, अन्दर प्रवेश करें। मैं दीपक जलाता हूँ, शिविर में अभी अँधेरा है।'

सामश्रवा ने शिविर में जाकर प्रकाश किया। गुरु के आसन को व्यवस्थित किया, और गोधन के आहार और पोषण की व्यवस्था की आज्ञा के लिए उद्यत हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

'बैठो', गुरु ने आदेशपूर्वक कहा। 'दूसरे कार्य अन्य शिष्यगण अथवा राजा जनक के अनुचर देख लेंगे। अभी मैं सचमुच ही तुमसे वार्ता करने को प्रस्तुत हूँ।'

'मैं पुनः क्षमाप्रार्थी हूँ, गुरुवर। यह मेरी मूर्खता नहीं तो और क्या है कि मैं अपने गुरुजनों के ज्ञान और मर्यादा के सेतु खोजने का उपक्रम करने लगूँ। मैं केवल प्रस्थान सम्बन्धी अनिश्चितता में अवश्य हूँ, जिसके लिए उचित समय पर आप आवश्यक निर्णय लेंगे ही।'

वह कुछ न कहना चाहते हुए इतना अधिक कह गया है कि अब आगे उसे क्षमा माँगने का भी अधिकार समाप्त ही माना जाना चाहिए। पर गुरु एकदम सामान्य हैं। जैसे वे अभी भी उससे ही कुछ सुनने के लिए प्रस्तुत हैं।

यह किसकी परीक्षा है? यूँ उनकी परीक्षाएँ कम नहीं हुई हैं, किन्तु यह संभवतः उसका अवसर नहीं है। ऋषि की परीक्षा? क्षमा, मौन क्षमा। प्रश्नातीत सामश्रवा क्या बोले।

एक क्षण के लिए उसकी अशक्त आँखें ऋषि की सूचीभेद्य दृष्टि से टकराईं। क्या उसका यह मिथ्याचार नहीं है कि वस्तुस्थिति से अवगत होते हुए भी वह प्रश्न को टालता ही जा रहा है?

'पूज्य पुरुष, मैं पूज्या कात्यायनी देवी की चिंता कर रहा हूँ। वे वैसे भी इतने विलम्ब के कारण बहुत चिंताकुल होंगी, और जब उन्हें यह समाचार मिलेगा, तो उनके करुण भावों को मैं कल्पना के परे ही मानता हूँ।'

सामश्रवा जानता है कि उसकी गुरु चरणावनत दृष्टि का ऋषि याज्ञवल्क्य के नेत्र लगातार स्नेहाभिषेक कर रहे हैं। जैसे यह प्रश्न उनके लिए अप्रत्याशित नहीं था। जैसे यह उन्हीं का प्रश्न था, जिसका कि वे लगातार उत्तर भी खोजते रहे हैं।

'सामश्रवा, यदि तुमने प्रकृति और परमात्मा, शरीर और आत्मा तथा ज्ञान और अज्ञान को एक-दूसरे से पूरी तरह से भिन्न विच्छिन्न सीमा रेखाओं में बाँध दिया है, तो इससे तुम्हें निश्चित ही अड़चन होगी। जो कुछ भी यहाँ तुम देखते हो, सुनते हो या किसी भी प्रकार से अनुभव करते हो, उसमें क्या तुम्हें लगातार किसी पूर्णता की प्राप्ति का उपक्रम नहीं दिखाई देता? और यात्रा यदि जारी है तो स्पष्ट है कि अभी गन्तव्य प्राप्त नहीं हुआ। और यह भी उतना ही सत्य है कि यह यात्रा कभी एकांगी भी पूर्ण नहीं होती।'

'पूज्य महात्मन्, इतना चुनाव तो निश्चित ही हमारा होगा इस यात्रा में कि हम मार्ग का निर्धारण ठीक से कर लें और यह भी ठीक से पहचान लें कि उसमें बाधक और सहायक शक्तियाँ कौन-सी हैं?'

'ऐसा चुनाव या चयन करने की तुम्हारी स्वतंत्रता भी वैसी ही नहीं है जैसी कि तुम अक्सर सोचते हो। यदि तुम्हें स्पष्ट तौर से यह पता हो कि तुम्हारा प्राप्तव्य क्या है, उसके अवरोध क्या हैं, तो उस तक पहुँचने की चेष्टा का प्रश्न उठेगा, किन्तु जब हमारे मार्ग का कणकण ही नहीं अलक्ष्य दूरियों तक सृष्टि की प्रत्येक आनुषंगिक इकाई, एक अज्ञात की ही तैयारी हो तो अपने कर्तव्य का अभिमान पालना हमें कैसे शोभा देगा?'

ऋषि कुछ देर के लिए जैसे ठहर गए थे। सामश्रवा जानता है कि उसके आगे पूछने का अवसर अभी नहीं है। और वह अपने आचार्य की उस शिक्षण विधा से तो परिचित है ही जिसमें वे सामान्य से आरम्भ कर ही विशेष विषयवस्तु पर आते हैं।

'तुमने देवि कात्यायनी का स्मरण साभिप्राय ही कराया है। तुम्हें देवि मैत्रेयी से हो रहे मेरे रागानुबन्ध से चिन्ता उत्पन्न हुई है। तुम सोच रहे हो कि एक ऋषि जीवन की परंपरा में जहाँ एक स्त्री ही बहुत भारस्वरूपा है, वहाँ एक दूसरी स्त्री का पाणिग्रहण तो अवश्य ही बोझ का कारण बनेगा। तुम यह भी सोच रहे हो ऋषि याज्ञवल्क्य जैसे तप:पूत ऋषि को शास्त्रार्थ में चुनौती देने वाली युवती में उत्पन्न यह समाकर्षण कोई क्षणिक आवेग तो नहीं है जिससे मुझे शीघ्र मुक्त हो जाना चाहिए।'

वे पुन: इस प्रकार सामश्रवा के अन्त:करण का उद्‌घाटन कर इस भाव में लीन हो गए कि उसका इस प्रकार सोचना और उनका यह सब कहना किसी आश्चर्य का विषय नहीं है।

इस स्थिति में अब सामश्रवा को कुछ भी कहना वांछित नहीं है। जब वे यह सब इतनी स्पष्टता से समझते और जानते हैं तो निश्चित ही उसका समाधान भी उनके पास है।

क्या सचमुच ही ऐसा समाधान उनके पास उपलब्ध है जो आगे आने वाले युगों में न केवल साधारण गृहस्थ बल्कि संन्यासी व्यक्तियों के लिए भी मान्य आदर्श का काम कर सके?

सामश्रवा की दृष्टि सहसा शिविर के द्वार पर पहुँचती है जहाँ दीपक के मद्धिम प्रकाश में एक श्वेत कमल उद्‌घाटित हो रहा है। उसे लगा कि जैसे घने होते अँधेरे को चीर कर एक चन्द्राकृति अकस्मात् पश्चिमी द्वार से उदित हो गई है। जैसे सूर्य और चन्द्रमा एकसाथ आमने-सामने आकर खड़े हो गए हों और बीच में अटके स्याह बादल की हिल सकने की सामर्थ्य एकदम शून्य हो गई हो।

ऋषि की मैत्रेयी पर कीलित दृष्टि जैसे स्तम्भित हो गई है। मैत्रेयी की लोक परा स्मित आभा अमित, अशेष आवेगों पर तैरती हुई भावों की अतल गहराई में भी निरावृत नहीं है। दो प्रबल धाराओं के मध्य स्थित सामश्रवा एकाकी वृक्ष की तरह अपने अस्तित्व की परिभाषा से अपरिचित विस्मय विमूढ़ हो गया है। आवेग के इन महोदधियों को रोक सकने की कोई उसकी सामर्थ्य तो है ही नहीं, वह अपना उद्धार कर पाने में भी असमर्थ खड़ा हुआ है यहाँ।

'ऋषिवर!' सामश्रवा के कर्णरन्ध्रों को वेधता हुआ परा प्रकृति का यह स्वर ऋषि याज्ञवल्क्य को आन्दोलित कर चुका है। 'यदि आपकी अनुमति हो तो सामश्रवा का मैं समाधान करूँ?'

अर्थात् ऋषि की रहस्य दृष्टि ने उसका और अपना संताप मैत्रेयी के देदीप्त ललाट की रेखाओं में तत्क्षण जड़ दिया है। पर मेरी समस्या का बोध इन्हें कब और कैसे हो गया है?

'तुम इसे मेरा कोई शास्त्रार्थ कौशल न समझना सामश्रवा। और यह तुम्हारी शिक्षा का भी कोई अध्याय नहीं है। किन्तु कुछ फिर भी यहाँ ऐसा है जो मुझे इस क्षण कहने को प्रेरित करता है।'

मैत्रेयी ने एक क्षण का विराम लिया। सामश्रवा को लगा कि ऋषि जनक की ज्ञानसभा में अपनी स्फूर्ति और पटुता से अनेक विद्वानों को स्तंभित कर देने वाली तापस बाला के स्थान पर उसके सन्मुख एक ऐसी तरुण नारी खड़ी हुई है जो अपने रूप-लावण्य में ऋषि को आकंठ निमग्न करती हुई उसके लिए तट की सीमा भी जैसे वही है।

'ऐसा कभी भी संभवतः इसके पूर्व कोई अवसर न रहा होगा, जब किसी आचार्य या गुरु ने अपने शिष्य से अपने अनुरागबन्ध की चर्चा की हो, उसका विश्लेषण किया हो। कहते हैं कि जब जनक की पुष्प वाटिका में राम सीता के प्रति अनुरक्त हुए थे, तो अपने भावों को उन्होंने लक्ष्मण के प्रति कहीं छुपाया नहीं था। तथापि वे प्रायः सम-वयस्क भाई थे और जनक के स्वयंवर प्रसंगविशेष में ही उनकी उपस्थिति हुई थी। किन्तु सामश्रवा, क्या तुम्हें अपने गुरुश्री याज्ञवल्क्य की जनक की इस ज्ञान सभा के आयोजन की यह उत्तरकथा कुछ-कुछ समान प्रतीत नहीं होती? क्या तुम्हें नहीं लगता कि परम ज्ञानोपलब्ध वीतराग महाराज जनक का यह आयोजन उस प्राचीन कथानक का कहीं एक नया संस्करण ही तो नहीं है?

'यह कहते हुए तुम्हें ऐसा लगना स्वाभाविक है कि हम अपने लिए कितनी महत्त्वाकांक्षी भूमिका बना बैठे हैं। मैं मानवीय स्वभाव की उन रहस्यपर्तों में भी झाँकने की चेष्टा करती रही हूँ जो स्त्री-पुरुष के सनातन सम्बन्धों की शृंखला खोलते होंगे। किन्तु ऐसा सोचने और देखने में मेरी दृष्टि सदैव समीक्षात्मक थी और ऐसा मैंने कभी नहीं सोचा था कि ऐसा पुरुष भी कोई होगा जो मेरे दृष्य और समालोचक को इस प्रकार दृष्टि ओझल करके मुझे मेरे अपरिचित से पहचान की हठ पकड़ लेगा।'

यहाँ मैत्रेयी की सामश्रवा को शीतल स्नात कर रही आँखें एकबारगी याज्ञवल्क्य की ओर मुड़ जाती हैं। क्या सामश्रवा को दृष्टा के इस प्रकार भोक्ता में परिवर्तित हो चुके भाव का साक्षी बनना उचित है, वह भी तब जबकि उसके पात्र उसके पूज्य गुरुजन हैं?

निर्निमेष याज्ञवल्क्य की आँखें जैसे जड़ीभूत हैं। मानो वे कह रही हैं कि मैत्रेयी एक बार फिर उनका दृष्टाभाव लेकर अपनी बात पूरी अवश्य करे। जैसे मैत्रेयी को इस

अवसर पर किसी दैवी संयोग ने ही सामश्रवा की शिक्षा के एक महत्वपूर्ण अध्याय को पूरा करने के लिए अकस्मात् प्रतिनियुक्त कर दिया है।

'तुम ऋषिवर के एक समर्पित और आज्ञाकारी शिष्य के रूप में स्वभावत: मेरे स्नेह-भाजन हो सामश्रवा। तुमने रामायण का पुष्पवाटिका में सीता-हनुमान-प्रसंग सुना होगा। राम के अतिशय प्रेम-भाजन हनुमान सीता के स्नेह से सराबोर होकर अपूर्व परिपूर्णता का अनुभव करते हैं। यह एक विचित्र संयोग ही है कि आज के इस प्रसंग विशेष में तीनों पात्र एकसाथ मंच पर उपस्थित हैं और मानवीय भावों के उस गहनतम तल का संस्पर्श करना चाहते हैं जो सभी पात्रों, घटनाओं और स्थितियों में संवेद्य हो सकता है।

'जब तुम हनुमान के माध्यम से राम का प्रेम संदेश सीता और सीता का राम तक पहुँचाते हो तो उस प्रेम में क्या तुम्हें वह प्रगाढ़ता प्रकट नहीं होती जो अलौकिक है? तब तुम क्या यह मानने को तत्पर नहीं होंगे कि प्रेम का एक लोकोत्तर पक्ष भी है जिसे हम प्राय: अनदेखा कर देते हैं।'

'आखिर वह है क्या जो प्रेमियों के कुछ निकटस्थ सम्बन्धियों की तात्कालिक आशंकाओं को छोड़कर शेष अन्य सभी के लिए अद्‌भुत रसोत्पत्ति का कारण बनता है? पर इतना तो स्पष्ट है कि आशंकायें तो मूलत: लौकिक ही हैं। उनके लिए प्रेम चूँकि अंधा है, और प्रेम करने वाले अज्ञानी हैं, अत: उनके भटक जाने के अवसर बहुत अधिक हैं। स्वभाविक है कि ऐसे सोच में मोह ही प्रधान है तथा उसके कारण उनकी दृष्टि का निरपेक्ष न रह पाना उन्हें सही मूल्यांकन की स्थिति में नहीं ला पाता है?'

मैत्रेयी को लग रहा है कि उसकी प्रस्तावना शायद बहुत लम्बी हो रही है, किन्तु याज्ञवल्क्य में उसके कथन के किसी भी छोर को थामने की कोई चेष्टा नहीं है। दूसरी तरफ सामश्रवा भी उसके विराम लेने पर कहीं अधिक विचलित लगने लगता है। मैत्रेयी जानती है कि उसके ठहरने की अभी न तो स्थिति है और नही उसका अवसर, अत: मैत्रेयी का सम्बोधन चल रहा है—

'साधारणतया संसार में जो कुछ तात्कालिक तौर पर घटित होता है, उसे हम क्षणिक और अस्थाई मान लेते हैं। ऐसे अनुभवों के दीर्घकालिक सत्य के प्रति ही हम जब आशंकित होते हैं, तो उसके शाश्वत के साथ जोड़ने की तो बात ही नहीं उठती। प्रेमियों के प्रति लौकिक धारणायें कुछ इसी प्रकार की हैं। जो मौसम की पहली ही बौछार में मेढक या कुकुरमुत्ते की तरह उबड़-खाबड़ भूमि में कुलाँच भरने लगे, उसके स्थाई मूल्यों के प्रति एक बुद्धिमान समाज कैसे आश्वस्त हो सकता है?

'इसलिए यदि तुम्हें ऋषि याज्ञवल्क्य के मेरे प्रति प्रकट अनुराग और आकर्षण में कुछ विचित्र और अनाश्वस्तिपूर्ण लगा है तो तुम्हारा यह भाव आश्चर्य जनक नहीं है। हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही प्रकार के व्यवहारों में हम जो कल्पित भावी

दिशा और दशायें बना लेते हैं, उनकी परिणति अन्ततः हमारे इसी प्रकार के व्यवहार में ही हो सकती है। आखिर ऐसा क्यों नहीं है कि जो कुछ भी घटित हो रहा है, उस भूमिका में हम एक क्षण ठहर जायें और उस अनुभव के केवल एक दृष्टा मात्र बनकर रहें। यदि हम उसकी कार्यकारण शृंखला पर भी जाते हैं तो स्वयं को केन्द्र में ही रखे रहना क्यों जरूरी है? यह क्यों जरूरी है कि हमारा अतीत हमारे वर्तमान को लगातार बौना बनाकर ही रखे?'

कुटिया के दीपक की लौ कुछ मन्द हो चली है। इतनी देर से चल रहे वार्ताक्रम में याज्ञवल्क्य ही बैठे हुए हैं तथा मैत्रेयी और सामश्रवा खड़े हैं। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को अपने सामने बैठने का संकेत करते हैं। जब तक मैत्रेयी आसन ग्रहण करती है, सामश्रवा दीपक के स्नेह की मात्रा में वृद्धि कर उसकी लौ को तीव कर देता है।

'सामश्रवा, मैं यहाँ केवल तुम्हारा समाधान करने के लिए ही प्रस्तुत नहीं हुई हूँ।' मैत्रेयी आगे कहती है। 'वास्तव में यहाँ पर तुम्हारे बहाने ऋषिश्रेष्ठ और स्वयं अपने प्रश्नों के भी उत्तर खोज रही हूँ। मैं स्वयं तत्क्षण समझ में न आने वाले उस कार्यकरण की शृंखला में भी कम नहीं भटक रही हूँ जो इस समय जनक सभा के बुद्धिमान विचारकों के लिए महत्वपूर्ण प्रश्नचिह्न बना हुआ है। क्या हमारा यह परस्पर उत्पन्न समाकर्षण सामान्य मानवीय भाव है जो प्रकृति के नियत धर्म और सिद्धान्त से उद्‌भूत है? क्या यह हममे से किसी एक का वह क्षणिक आवेग है जो विवेक बुद्धि के कुछ समय के लिए ओझल हो जाने पर उत्पन्न हुआ करता है? अथवा क्या यह हमारे अदृश्य, अपरिभाषित भूत और भावी उन सम्बन्ध शृंखलाओं की कड़ी है जो इस रागानुबन्ध की वास्तविक आधार भूमि है?

'जब अपने पिता और अग्रज दोनों को ही विस्मय में डालते हुए मैंने शास्त्राध्ययन और शास्त्रार्थ को अपना जीवन का ध्येय बनाया तब मैंने ऐसा कोई अनुमान नहीं किया था कि मैं किसी पुरुष के प्रेमपाश में पड़कर गृहस्थ धर्म का भी निर्वाह करूँगी। यह सब मैंने अपने जीवनोद्‌देश्य और संभावनाओं की तुलना में अत्यन्त हेय माना था। एक अर्थ में मैंने सारे पुरुष वर्ग को ही चुनौती देने का संकल्प साध लिया था और मैं ऐसा कुछ मान बैठी थी कि सारे पुरुषों में मेरी स्थिति और अवस्था विशिष्ठ है।'

'मैं जैसे मानव समाज के सामने एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करने को प्रतिबद्ध थी जिसमें एक स्त्री बिना किसी पुरुष के वरण और सहयोग के न केवल सम्पूर्ण हो अपितु अपनी श्रेष्ठता में अतुलनीय भी हो। महाराज जनक की इस धर्मसभा में शास्त्रार्थ का वरण मैंने जब किया तो यह अनुमान कर लिया था कि यहाँ मुझे ऋषिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य को भी चुनौती देनी होगी, किन्तु यह परिकल्पना मुझे कैसे भी नहीं हुई कि उसका परिणाम मेरी पराजय होगा।'

'पराजय तो किसी और की हुई है, मैत्रेयी,' मौन याज्ञवल्क्य यकायक बोल उठे। 'तुम्हारी तो यह जय ही है।'

'पता नहीं ऋषीश्वर, यह किसकी पराजय और किसकी जय है, मैत्रेयी ने कहा, 'किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि मैं अब वह नहीं हूँ जो इस शास्त्रार्थ के पूर्व थी। और आपकी स्थिति में तो किसी प्रकार के परिवर्तन आने का प्रश्न उठता नहीं है, इसलिए मैं पराजित या पराभूत अनुभव करती हूँ तो मुझे ऐसा कहने का स्पष्ट कारण समझ में आता है।

सामश्रवा देख सकता है कि यह कहते हुए मैत्रेयी के मुख पर लावण्य की जो रहस्याकृति निर्मित हुई, उसमें विश्व-विजेता को भी विजित कर लेने की गुरुता झलकती थी। किन्तु इस जित और अपराजित के झगड़े में उसे नाहक निर्णायक की भूमिका में लाकर खड़ा कर दिया गया है। क्या वह मान ले कि उसके लिए सम्बोधन की शृंखला समाप्त हो गयी है तथा उसे गुरु-आज्ञा लेकर अब प्रस्थान कर देना चाहिए?

'तुम्हारे लिए मेरी बात समाप्त नहीं हुई है सामश्रवा।' मैत्रेयी को सामश्रवा की व्यग्रता का आभास है। 'मूल प्रश्न तो यह फिर भी बचा ही रहता है कि हमारा चुनाव कितना और कहाँ है तथा पराधीनता की यह अवस्था क्या प्रत्येक की नियति है ही? हम किस सीमा तक एक अदृश्य के यंत्र की भाँति आचरण करने को विवश हैं तथा ऐसा करते हुए हम किसके उद्देश्य की पूर्ति करते हैं—अपनी अथवा अदृश्य की? और वास्तव में क्या हमारे और उसके उद्देश्यों में भिन्नता भी है अथवा वे भी तत्त्वतः एक ही हैं?'

'आखिर वह क्या है, कौन है जो हमारे सारे निश्चयों, धारणाओं और संकल्पों को अंधमोड़ देकर हमें एकदम नई मान्यताओं का प्रचारक बना कर छोड़ जाता है? यह केवल कोई स्थान, काल या पुरुष ही नहीं हो सकता जो उतने आत्यन्तिक और स्थायी परिवर्तनों का कारण बन ज़ाता है। यही कारण है कि इस रहस्य परिवर्तन का पात्र होते हुए भी मैं उसके दृष्टा होने की भी चेष्टा कह रही हूँ। यह कहते हुए मैं तुम्हारे गुरुवर और अपने व्यवहार का मात्र बाह्य समाधान ही प्रस्तुत करना चाहती हूँ, ऐसा भी मत मानना। किन्तु यह तुम जानते हो कि अपने चैतन्य के प्रति सचेत रहते हुए यदि अपने भीतर हुए किन्हीं परिवर्तनों के तुम साक्षी बने रह सकते हो, तो ऐसा परिवर्तन तुममें कोई मलिनता उत्पन्न नहीं करता। मेरा और तुम्हारे ज्ञाननिष्ठ योगी का पारस्परिक अनुराग भाव इसी भावभूमि में उत्पन्न हुआ है।'

'किन्तु पूजनीय, यह क्या उचित है कि वंदनीय कात्यायनी जी के होते हुए हमारे गुरुवर्य द्वितीय वरण करते हुए आपको स्वीकार करें?'

एक ही साँस में कहीं गहरे गड़े हुए इस प्रश्न को उछालकर सामश्रवा हतबुद्धि होकर रह गया। किन्तु अब वह कर ही क्या सकता था? संभव है देवि मैत्रेयी उसे

स्वत: क्षमा कर दें और यदि उन्होंने क्षमा नहीं किया तो दण्ड की उसकी पात्रता तो स्वयंसिद्ध ही है। किन्तु क्या यह प्रश्न सामश्रवा को मैत्रेयी से पूछना योग्य है ? वास्तव में इसका उत्तर तो केवल याज्ञवल्क्य ही दे सकते हैं। किसी भी स्थिति में हो, है तो यह पूरी धृष्टता ही।

सामश्रवा ने यह सोचते हुए मैत्रेयी की ओर नहीं देखा था। यदि प्रश्न पूछ लेने के पश्चात् उसने सीधा उसकी आँखों में देखा होता तो संभवत: उसकी भावधारा एकदम भिन्न होती।

मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य में अब तक मौन संवाद हो चुका है। मैत्रेयी के वक्तव्य सम्बन्धी पूर्वाधिकारों की पुष्टि हो चुकी है। मैत्रेयी का उत्तर सामश्रवा को मिलेगा।

'अनन्त संभावनाओं के आकाश को तुम मुट्ठी में क्यों समेट लेना चाहते हो सामश्रवा ? क्या तुम्हें अब तक समस्त प्रकार की दूरियों के माप उपलब्ध हो चुके हैं ? तुम ज्ञात समस्त सीमाओं से भी असीम को कैसे जाँच सकते हो वत्स ?

'सागर में प्रतिक्षण उठ रही असंख्य लहरों के लेखे भी यदि कह पाते कि समुद्र ने किस लहर का आलिंगन किया है तब भी अपने महत्तेज गुरु के सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न तुम्हारे मन में नहीं उठना चाहिए।.........और रहा प्रश्न मेरा.........तो सुनो सामश्रवा, क्या शिवाभिषेक की प्रत्येक बूँद किसी वरदान की अभ्यर्थी होती है ?.........किन्तु तुम्हारी माता, अपनी वरेण्य अग्रजा के दर्शन-लाभ की लालसा तो तुमने बड़ी तीव्र कर ही दी है मुझमें।'

ऋषिवर मैत्रेयी के शिशु सुलभ नेत्रों के उल्लास से निर्मित क्रीडा पात्रों का कथानक पढ़ रहे हैं। सामश्रवा इसे समझ सकता है।

❖

जनक

एक राजा अपना राजकाज छोड़कर ज्ञान की गुत्थियों में क्या इतना समय व्यतीत कर सकता है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि विद्वानों और पण्डितों ने ही अपने आख्यानों और दृष्टान्तों को सही सिद्ध करने के लिए लोक और इतिहास से भिन्न एक चरित्र-विशेष रच डाला है—विदेहराज ज्ञानयोगी राजा जनक?

किन्तु क्या यह भी एक सत्य ही नहीं है कि अपने वृत्तान्त और व्यक्तित्व से भिन्न एक मनुष्य बहुत कुछ वह भी होता है जो कि उसके विषय में लोग कहते या जानते हैं? जब उसका व्यक्तित्व स्थान और काल से पृथक् नहीं किया जा सकता तो उसे लोग और समाज से अलग करके भी कैसे देखा जा सकता है?

इसलिए जनक यहाँ, इस कथानक में भी मात्र एक साक्षी है, एक तटस्थ दृष्टा, उस इतिवृत्त का जो अपनी पृष्ठभूमि से भले ही पुरातन लगे किन्तु इसके सूत्र और शृंखलायें तो कभी भी पुरानी नहीं होंगी।

जनक की स्मृति में कुरु और पांचाल सहित अन्यान्य अनेक देशों के श्रेष्ठ वाग् विशारदों की आयोजित ज्ञानयज्ञ सभा की शास्त्रचर्चा सद्यश: विद्यमान है। कुछ समय पूर्व परम विदुषी सुलभा ने आकर जैसे उन्हें ज्ञान का नया पाठ पढ़ाते हुए पुरुषों की तुलना में विदुषी स्त्रियों में किसी भी प्रकार की न्यूनता न होने का बोध करा दिया था, किन्तु वचक्नु गर्ग की पुत्री मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य को उस महती सभा में काशी और विदेह नगरी के सैनिकों के तरकस से निकले अचूक तीरों की तरह दो तीरों को लेकर तैयार थी, तो वे स्वयं इस बात से आशंकित थे कि क्या याज्ञवल्क्य विद्वत्मंडली द्वारा सर्वमान्य सिद्ध हो सकेंगे। किन्तु मैत्रेयी ने जिस सहजता से याज्ञवल्क्य के अजेय होने की घोषणा की उससे कुछ विद्वानों को निराशा भी हुई थी। शाकल्य ऐसे ही लोगों में से थे। उनके तरकस में तो अभी भी अनेक अचूक बाण विद्यमान थे। अतः वे अपनी पराजय को मानने के लिए कैसे भी प्रस्तुत नहीं थे। एक बार जनक को लगा कि जैसे याज्ञवल्क्य भी वचक्नवी द्वारा उनकी अपराजेयता की घोषणा के बाद पूरी तरह आश्वस्त हो चुके थे, किन्तु प्रश्नोन्मुखी शाकल्य विदग्ध को देखकर वे शास्त्रार्थ के लिए पुनः सन्नद्ध हो गए।

'देवगण कितने हैं?' शाकल्य ने पूछा।

'तैंतीस', याज्ञवल्क्य का उत्तर था।

'वे तेतीस देवता कौन से हैं?'

'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति।'

'अग्नि, पृथ्वी, आकाश, अंतरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र। ये जगत् के आश्रयदाता होने के कारण आठ वसु हैं।'

'और एकादश रुद्र?'

'दश इंद्रियाँ और एक मन।'।

याज्ञवल्क्य की स्थापना तो सचमुच ही अभिनव है—जनक जी सोचते हैं। धर, ध्रुव, सोम आदि आठ वस्तुओं तथा हर, बहुरूप, त्र्यंबक आदि एकादश रुद्रदेवताओं विषयक अब तक की स्थापित मान्यता से भिन्न यह मत कितना वैज्ञानिक भी प्रतीत होता है।

'तुम यह भी जानना चाहोगे शाकल्य कि इन्द्रियाँ और मन को रुद्र की संज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है? वास्तव में पीड़ा काल में मनुष्य के स्वयं के रुदन और मृत्युकाल में सम्बन्धियों के रुदन के कारण ये एकादश रुद्र ही तो हैं।'

'अभी मेरा समाधान नहीं हुआ है।

'मुझे देवगणों की वास्तविक संख्या पुनः बताओ।' शाकल्य ने याज्ञवल्क्य को फिर एक बार तौलना चाहा है।

'ऐसी संख्या छः है और उनके नाम हैं—अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य और द्युलोक। वास्तव में वसु आदि तेतीस देवताओं में इन्हीं छः का विस्तार भी हुआ है।'

'यह भी संख्या अधिक है। आप मुझे वास्तविक देवों के विषय में बताइए', शाकल्य ने पुनः आग्रह किया।

'ऐसे देव तीन हैं—पृथ्वी, आकाश और अंतरिक्ष।'

'यह संख्या भी अधिक है।'

'तब दो देवगणों का ध्यान कर लो, वे हैं अन्न और प्राण।'

'यह भी संख्या अधिक है।'

'फिर डेढ़ देव-पवन ही पर्याप्त हैं।'

'किन्तु पवन डेढ़ कैसे हुआ?'

'पवन अपने अस्तित्व और प्रवाह की स्थिति के कारण पूर्ण और आधा, इस प्रकार डेढ़ है।'

'मुझे तो एक ही सम्पूर्ण देव का नाम बतायें, ऋषिवर', शाकल्य ने अन्ततः पूछा।

'वह एक देव प्राण अर्थात् ब्रह्म है। पृथ्वी उसका आधार, अग्नि उसकी आँख, मन उसका संकल्प तथा इन्द्रियाँ उसका आश्रय हैं। वह सर्वत्र सभी भूतों में समान रूप से स्थित है।'

शाकल्य ने तो हार न मानने का बीड़ा उठा रखा है। जनक देख रहे हैं कि कुछ अन्य शास्त्रार्थियों का जैसे मौन समर्थन भी उसे प्राप्त है। उन्हें याज्ञवल्क्य का व्यंग्य वाक्य सुनाई पड़ रहा है।

'शाकल्य, ऐसा प्रतीत होता है कि ये ब्राह्मण भी तुम्हें अंगारे निकालने के लिए चिमटे के रूप में उपयोग में ला रहे हैं, अतः तुम आगे इनकी ओर से भी मुझसे प्रश्न पूछ सकते हो।'

यहाँ एक क्षण के लिए जनक की दृष्टि मौन किन्तु समुत्सुक मैत्रेयी की ओर गई, जो याज्ञवल्क्य के आत्मविश्वास में ऊर्जा उड़ेल रही थी। उन्हें लगा कि जहाँ वह याज्ञवल्क्य की जीत के प्रति पूरी तरह आश्वस्त है वहीं, वह शाकल्य की दुश्चेष्टा से जैसे आशंकित भी प्रतीत है।

'यह तो उपस्थित सभी विद्वानों की सामर्थ्य पर तुम्हारा आक्षेप है, याज्ञवल्क्य', शाकल्य ने कहा। 'क्या तुम स्वयं भी उस ब्रह्म को जानते हो जो इस प्रकार सबकी सामर्थ्य को नकार रहे हो?

'शाकल्य, मुझे दिशा सम्बन्धी विज्ञान की जानकारी है,' याज्ञवल्क्य ने कहा। 'मुझे इन दिशाओं के देवताओं के ज्ञान के साथ-साथ उनके अधिष्ठान की भी जानकारी है। वास्तव में मैं स्वयं इस विज्ञान के सहारे समस्त जगत् को आत्मरूप जानते हुए उसमें स्थित हूँ।'

'क्या तुम चारों दिशाओं के देवताओं के नाम और उनकी अंतिम प्रतिष्ठा की स्थिति बता सकते हो?'

'अवश्य। पूर्व के देवता आदित्य नेत्र में, नेत्र रूप में तथा रूप हृदय में प्रतिष्ठित है। दक्षिण का देवता यम यज्ञ में, यज्ञ श्रद्धा में और श्रद्धा हृदय में प्रतिष्ठित है। पश्चिम का देवता वरुण जल में, जल शुक्र में तथा शुक्र हृदय में प्रतिष्ठित है और उत्तर का देवता सोम दीक्षा में, दीक्षा सत्य में और सत्य हृदय में प्रतिष्ठित है।'

'इस स्थापना से मैं सहमत हूँ किन्तु यह बताइए कि हृदय की प्रतिष्ठा कहाँ है?'

'हृदय शरीर में तथा शरीर हृदय में है और ये दोनों प्राण में अवस्थित हैं, यह प्राण ही ब्रह्म है। यह अक्षर और अविनाशी है। क्या तुम इस ब्रह्म के सम्बन्ध में स्वयं भी कुछ कह सकते हो?'

जनक देख रहे हैं कि शाकल्य के निरुत्तरित हो जाने की स्थिति आ गई है। उसका शिर इस प्रकार झुक गया मानो वह उसके धड़ से ही पृथक् हो गया हो।

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने सभी विद्वान् ब्राह्मणों का पृथक्-पृथक् और सामूहिक तौर पर भी आह्वान किया किन्तु किसी भी प्रतियोगी में उनसे कुछ पूछने की सामर्थ्य दृष्टिगोचर नहीं हुई।

अब आतिथेय और अनुष्ठानकर्ता विदेहराज जनक के उठने की बारी है, वे ऋषि याज्ञवल्क्य की ओर बढ़ रहे हैं—उनके अभिनन्दन के लिए।

● ● ●

जनक की यह ज्ञानसभा कोई स्वयंवर सभा नहीं थी। यद्यपि बल, बुद्धि और रूप की आकांक्षाओं ने अतीत में अनेक प्रकार के स्वयंवरों को जन्म दिया है, किन्तु उनका आयोजन ऐसे अभिप्रायविशेष से ही हुआ करता था, अतः उसके रहस्य और रोमांच की प्रतीक्षा में एक दर्शक समुदाय भी तैयार रहा करता था। किन्तु जनक के इस ज्ञान यज्ञ का पर्यवसान भी एक स्वयंवर में होगा, ऐसा किसी को अनुमान नहीं था। क्या मैत्रेयी सावित्री की तरह ही किसी सत्यवान की प्रतीक्षा में एक दिग्विजयी शास्त्रार्थ के लिए निकली थी? यह तो निश्चित ही है कि बिना ऐसे किसी सूक्ष्म संकल्प के मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के परिणय सूत्र में बँधने का कोई कारण नहीं था। विदेहराज का भी सौभाग्य-सुख किसी प्रकार न्यून नही था जिन्हें अनायास एक कन्यादान का पुण्यलाभ प्राप्त हो रहा था।

अतः आचार्य अश्वल से यह सूचना मिलने पर जनक ने मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के मंगल परिणय के सभी आयोजन सम्पन्न किए। पश्चात् याज्ञवल्क्य और नवपरिणीता मैत्रेयी को विदाई देते हुए जनक ने कहा—

'ऋषीश्वर, यह मेरा सचमुच ही बड़ा सौभाग्य है कि इस ज्ञानसभा की सम्पन्नता और आज के विजयोपलक्ष्य में एक सहस्र स्वर्ण शृंग मंडिता गायों के साथ-साथ मैत्रेयी का हाथ भी सौंप रहा हूँ। इस अवसर पर मुझे महाराज जानश्रुति और वीतराग ऋषि रैक्व के आख्यान का स्मरण हो रहा है। एक बार यह पुण्यवान राजा अपने महल की छत पर खड़ा हुआ था तो उसने आकाश में उड़ते हुए दो हंसों की यह वार्ता सुनी— 'सावधान हो जाओ बन्धु! यह जो राजा जानश्रुति है, उसके तेज से स्वर्ग भी संतप्त हो रहा है। तुम उसके इतने निकट न उड़ो अन्यथा जल जाओगे।'

'इस पर दूसरे हंस ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की—इस राजा की इतनी प्रशंसा ही न अब करो तो अच्छा। भला इसकी एक पुण्यात्मा के रूप में क्या मुनि रैक्व से कोई तुलना हो सकती है?'

'रैक्व कौन है? उनकी ऐसी क्या विशेषता है?' साथ के हंस ने पूछा।

'रैक्व समस्त पुण्यों के स्वामी हैं। उनकी इस विशेषता में उनके सामने कोई प्रतियोगी ठहर ही नहीं सकता।'

'जानश्रुति को रैक्व की बहुत खोज करनी पड़ी। उनका पता चलने पर वे छः सौ गायें, अनेक स्वर्णहार, अश्व और रथ आदि के उपहार सहित उनके पास पहुँचे, किन्तु रैक्व ने राजा का तिरस्कार करते हुए यह सब अस्वीकार कर दिया।

'इसके पश्चात् जानश्रुति एक सहस्र गायें, बहुत स्वर्णहार, अश्व और रथ आदि के साथ-साथ अपनी कमललोचन पुत्री को भी लेकर कन्यादान के उपलक्ष्य सहित पहुँचे। राजा की यह युक्ति आश्चर्यजनक रूप से सफल हुई। यद्यपि ऋषि रैक्व पूर्णतया वीतराग और इच्छाशून्य थे, किन्तु उन्होंने राजा के इस वरेण्य उपहार की अवहेलना न करते हुए उसे श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया।'

राजा जनक के विचार और व्यवहार कुशल इस वक्तव्य से याज्ञवल्क्य के मुख पर नियंत्रित हास की रेखा उभर आती है।

'विदेहराज, आप स्वयं लोक और परलोक दोनों के ज्ञान के श्रेष्ठ अधिकारी हैं। यह संभव है कि कालान्तर में वेदों के इन परालौकिक भाष्य उपनिषदों के इन आख्यानों से सामान्य जन यह निष्कर्ष निकालने लगे कि नारी मूर्ति में ऋषियों का आकर्षण ही इन प्रसंगों की मुख्य पृष्ठभूमि है। प्रथमदृष्ट्या रैक्व ऋषि के व्यवहार से ऐसा ही निष्कर्ष निकाला जायगा कि जब राजा जानश्रुति ने सामग्री को दुगना कर दिया और अपनी पुत्री भी उपहार के रूप में प्रस्तुत कर दी तो ऋषि ज्ञानदान के लिए तैयार हो गए। जैसे इसमें उन्हें अपने ज्ञान का मूल्य प्रकट दिखाई देने लगा था।'

'आप सबकुछ जानते हुए इस विषय पर जो मुझे कहने को प्रेरित कर रहे हैं,' जनक ने कहा, 'उसका अभिप्राय मैं समझ सकता हूँ, ऋषिश्रेष्ठ। मैं जानता हूँ कि यदि उसका समाधान मैं आपसे प्राप्त करता हूँ तो उसकी पृष्ठभूमि में इस ज्ञानसभा का आयोजन पहुँच जाता है जिसके विषय में इस व्यवस्था से समाधान स्वतः ही हो जायेगा।'

'वास्तव में ऋषियों, संन्यासियों के सम्बन्ध में हमारी सामान्य धारणायें प्रायः भ्रान्तिमूलक हैं। चूँकि हमने उन्हें एक असंसारी बाना प्रदान कर दिया है अतः हम उन्हें सामान्यतः मानवीय व्यवहार, स्थितियों और संवेदनाओं से भी शून्य मान लेते हैं। प्रायः वे ऐसा नहीं मान पाते हैं कि यह भेद केवल ज्ञान और अज्ञान का है। इसे ही असंसारी और संसारी का भी भेद कहा जा सकता है। किन्तु एक सामान्य परम्परा दृष्टि प्रत्येक संसारी को अज्ञानी और असंसारी को ज्ञानी मानती है। उसका सोचना है कि जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है अथवा जिसे हम साधु या संन्यासी कहते हैं उसका मानवीय व्यवहार मानवेतर होगा। इसलिए जब भी कभी इन संसारेतर (वास्तव में वैसे यह शब्द भी संन्यासियों के लिए उपयोग में लाना अनुपयुक्त ही है) हम मनुष्यों को मानवीय भावनाओं के अनुरूप व्यवहार करते देखते हैं तो यह मान बैठते हैं कि वे उनके आचरण के दुर्बल पक्ष हैं।

'वास्तविकता निश्चित ही इससे भिन्न है। मनुष्य का ज्ञान और अनुभव उसके मन और उसकी चेतना के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। यद्यपि मानवीय मन और चेतना मनुष्य के समस्त भौतिक व्यवहारों को भी नियंत्रित करने में समर्थ हैं, किन्तु उसे सदा सर्वदा इसकी आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः मन और शरीर तथा चेतना और प्रकृति आदि दोनों के ही स्तर पर एक ज्ञानी का आचरण प्रतिबिम्बित होता है और उसे होना चाहिए।

'ऋषिराज, स्थितप्रज्ञता इसके अतिरिक्त और क्या है? हमारे शास्त्र यही कहते हैं कि जो मनुष्य सुख और दुःख के द्वन्द्वों के मध्य सम रह सके, वह स्थितप्रज्ञ है। शास्त्र यह कहीं नहीं कहते कि उसे सुख या दुःख की स्थितियाँ उत्पन्न नहीं होंगी। वे यह भी

नहीं कहते कि उसे रोग-निरोग, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति अथवा आकर्षण-विकर्षण की स्थितियाँ नहीं आयेंगी। अन्तर केवल इतना है कि इनमें ज्ञानी का व्यवहार अज्ञानी से सर्वथा भिन्न होगा। और यही महत्त्वपूर्ण भी है। वास्तव में दुर्बलता मनुष्य की बन्धनग्रस्तता में प्रकट होती है। बन्धनग्रस्त वह है जो अनासक्त है। इसलिए वह दुर्बल भी है। जो शुद्ध ज्ञान से जागृत विवेक के सहारे सदैव चैतन्य और अनासक्त रह सकता है, वह कहीं भी बन्धनग्रस्त नहीं है। ऐसे मनुष्य का आचरण सर्वथा शुद्ध और इसलिए अनालोच्य है।'

मैत्रेयी पतिगृह प्रस्थान के अवसर पर पितातुल्य जनक के द्वारा अपने पति की प्रशंसा में कहे इन प्रीति वाक्यों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न है। किन्तु करुण संवेदना के इस कठिन अवसर पर अपनी भावना व्यक्त करने में उसकी वाणी कैसे भी समर्थ नहीं हो रही है। जनक जी को इसकी प्रतीति है।

'पुत्री, मुझे विदेह, वीतराग, राजऋषि और परमज्ञानी आदि अनेकानेक विशेषणों से युक्त किया जाता है, किन्तु इस क्षण मेरे हृदय में उमड़े वात्सल्य और करुणा के भूचाल को भी तो कोई देखे। ब्रह्मज्ञ याज्ञवल्क्य से श्रेष्ठतर पुरुष पतिरूप में तुम्हें मिलना असंभव था। विधाता ने उसका माध्यम मुझे और मेरें आयोजन को बनाया, यह मेरा परम सौभाग्य है। इस क्षण मुझे तुममें अपनी पुत्री सीता की ही संपूर्ण छवि दिखाई दे रही है। अतः जो विशेषण मुझे शास्त्र और समाज ने दिए हैं वे इन दोनों अवसरों पर एकदम मिथ्या सिद्ध हुए हैं। मुझे शकुन्तला को विदा करते हुए महर्षि कण्व के गद्गद कण्ठ का आख्यान स्मरण आ रहा है। दुष्यन्त के साथ उसे विदा करते हुए अपने अवरुद्ध कंठ, अश्रुस्नात आँखें और रोमांचित शरीर का स्मरण करते हुए वे यही कह रहे थे कि उन जैसे संन्यासी की स्थिति जब इतनी करुण है तो सामान्य गृहस्थ के दुख की कल्पना ही की जा सकती है। इस वेदना का भार मेरे ऊपर ऋषि कण्व से तो निश्चित ही अधिक ही होगा।'

राजा जनक में मैत्रेयी ने अपने पिता के परिपूर्ण प्रकट बिम्ब को निहारा। अभी तक उसके मन में इस अवसर पर उसके पिता वचक्नु के उपस्थित न रह सकने की पीड़ा थी, किन्तु ऋषि याज्ञवल्क्य के अपने आश्रम-प्रस्थान करने की शीघ्रता में जितने अल्पकाल में यह कार्यक्रम सम्पन्न हो रहा था, उसे अपने पिता को सूचना भेजने का समय नहीं था। अतः आज जनक के अश्रुसिक्त नयनों से अपना अभिषेक कराते हुए उसे अपने जीवन की धन्यता ही प्रकट हो रही थी।

याज्ञवल्क्य अभिभूत खड़े थे। भावनाओं के इस अतल महासागर में वे किनारे ही खड़े रहना चाहते थे। जनक को स्मरण आ रहा है याज्ञवल्क्य के शिक्षा पूर्ण कर लेने के बाद का अवसर जब वे ज्ञानार्जन के पश्चात् अपने आश्रम की व्यवस्था के लिए देशाटन को निकले। उन्हें राजा जनक की सभा में विद्वानों के समादर की स्थिति का ज्ञान था। अतः उन्होंने इस अवसर पर जनक के पास जाना उचित समझा। उनकी दृष्टि में तत्समय

भूमण्डल में ऐसे एकमात्र राजा जनक ही थे, जिनकी सभा में धन का अर्जन और ज्ञान की परीक्षा एकसाथ संभव थी।

विदेह अपने सिंहासन पर बैठे हुए थे। याज्ञवल्क्य के तेजतप्त युवा स्वरूप को देखते हुए उन्हें किसी के रोकने का साहस नहीं हुआ। वे सीधे जनक जी के निकट पहुँच गये। सामान्य राजमर्यादा से भिन्न न तो याज्ञवल्क्य ने महाराज का अभिवादन किया और न ही जनक जी ने कोई सत्कारसूचक वाक्य कहे। उनका वार्तालाप सीधा इस प्रकार प्रारम्भ हुआ—

'याज्ञवल्क्य, कैसे आए—पशुओं की कामना से अथवा ब्रह्म चर्चा के लिए।'

'राजन्, मैं दोनों के लिए आया हूँ। किन्तु मैं चाहता हूँ कि पहले आप मुझे बतायें कि इसके पूर्व अन्य किसी आचार्य ने आपको क्या उपदेश दिया है?'

'मुझसे शिलिन के पुत्र जित्वा ने कहा है कि वाक् ही ब्रह्म है', जनक ने कहा।

'आपको यह सत्य ही कहा गया है किन्तु यह अधूरा है । बिना वाणी के कुछ भी संपादित नहीं हो सकता। वाणी से ही ज्ञान का प्रसार होता है। इसी से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इतिहास और पुराण आदि का ज्ञान होता है। इसकी उपासना प्रज्ञा रूप में की जानी चाहिए।'

इस उत्तर के पश्चात् जनकजी याज्ञवल्क्य को एक सहस्त्र गायें तत्काल भेंट में देने को प्रस्तुत हो गए, किन्तु याज्ञवल्क्य जी ने भेंट यह कह कर स्वीकार नहीं की कि उनके पिता का कहना था कि जब तक प्रश्नकर्ता का पूरी तरह से समाधान न कर दिया जाय आचार्य को दक्षिणा नहीं लेनी चाहिए। अतः उन्होंने जनक से पुनः कहा कि उन्हें जो अन्य उपदेश प्राप्त हुए हों, वे उनके विषय में भी समाधान प्राप्त करें।

'महात्मा उदंक शौलवायन ने मुझे कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है', जनक जी ने कहा। 'यदि इस शिक्षा के पश्चात् आप इस विषय में अतिरिक्त प्रकाश डाल सकते हैं, तो मैं उसे ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूँ।'

'उनका कथन सत्य है।' याज्ञवल्क्य ने बताया। 'किन्तु यह अपूर्ण है। इस प्राण की आराधना और इसकी सेवा प्रियातिप्रिय की तरह की जानी चाहिए। जीवन के अन्य समस्त अनुष्ठान इस प्राण तत्त्व के ही अनुषंगी हैं। जिसे इस सत्य का ज्ञान हो जाता है, प्राण उसका परित्याग नहीं करते।'

इस व्यवस्था पर जनक जी पुनः अभिभूत हुए तथा उन्होंने एक सहस्त्र गायों का उपहार देना चाहा, किन्तु याज्ञवल्क्य ने और भी शेष समाधान प्राप्त करने का आग्रह किया।

'साधु श्री बर्कु वर्सण ने मुझे कहा था कि 'चक्षु ही ब्रह्म है', जनक ने कहा। 'कृपया इसके संबंध में आप अपनी विस्तृत टीका प्रदान करें।'

'उनका कथन सत्य है, किन्तु सत्य इस कथन तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। चक्षु वास्तव में सत्य को प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराती है अतः चक्षु की सत्य के रूप में उपासना विधेय है। जो मनुष्य चक्षु की ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, उसे सत्य चक्षु के देवता सूर्य के समान पूर्ण प्रतिभाषिस होता है।'

इस व्याख्या से जनक पुनः प्रभावित होकर याज्ञवल्क्य से दक्षिणास्वरूप गायों का उपहार लेने के लिए आग्रह करने लगे, किन्तु याज्ञवल्क्य ने उनसे आगे भी अन्यथा प्राप्त ज्ञान को प्रकट कर उस पर आवश्यक समाधान प्राप्त कर लेने के लिए कहा।

'मुझे भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न गर्दभीविपीत ने कहा है कि श्रोत ही ब्रह्म है। कृपया इस विषय पर भी आप अपनी व्याख्या प्रदान करें।' जनक ने अनुरोध किया।

'श्रोत्र-ब्रह्म की उपासना अनन्त रूप में की जानी चाहिए। दिशायें श्रोत्र की अनन्तता की परिचायक हैं। ब्रह्म की इस प्रकार से उपासना करने वाला मनुष्य देवताओं से उपहार प्राप्त करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।'

इसके पश्चात् जनक ने जबाला के पुत्र सत्यकाम की शिक्षा 'मन ही ब्रह्म है' पर जब याज्ञवल्क्य की व्यवस्था चाही तो याज्ञवल्क्य ने बताया कि 'मन की आनन्दरूप में उपासना की जानी चाहिए। वास्तव में सभी जीवधारियों की वास्तविक देह हृदय है, हृदय में ही सभी प्राणी प्रतिष्ठित हैं तथा हृदय ही परम ब्रह्म है। ब्रह्म की इस रूप में उपासना करने वाला मनुष्य ब्रह्म साक्षात्कार करता है।'

अपने विभिन्न शिक्षकों और गुरुओं से प्राप्त इन शिक्षाओं के भी आगे इनके विषय को फलश्रुति सहित इतना स्पष्ट सुनकर जनक ने याज्ञवल्क्य से गो-दक्षिणा लेने का बहुत आग्रह किया, किन्तु याज्ञवल्क्य स्वतः अभी इस बात से संतुष्ट नहीं थे कि उन्होंने जनक को वह ज्ञान प्रदान कर दिया है जिसके बदले दक्षिणा ली जा सकती है। यहाँ जनकजी की भी स्पष्टतया यह समझ में आ गया कि जहाँ ब्रह्म की धारणा किसी भी ज्ञानेन्द्रिय अथवा अन्तःकरण के रूप में की जा सकती है, किन्तु उसकी उपासना विशेष विधि से ही की जानी चाहिए। उन्हें यह भी प्रतीत हुआ कि याज्ञवल्क्यजी ज्ञान के क्षेत्र में निश्चित ही उनके वरेण्य हैं, अतः उन्होंने अपना सिंहासन त्याग करते हुए याज्ञवल्क्य के निकट पहुँचकर उनसे वास्तविक और पूर्ण ज्ञान प्रदान करने का अनुरोध किया।

'राजन्, आप सम्भ्रान्त, पूज्य और वेदों तथा उपनिषदों के बहुत बड़े अध्येता हैं। किन्तु अभी आपको यह पता नहीं है कि यह देह छोड़ने के बाद आप कहाँ जायेंगे। अब मैं इसी विषय को अपनी ओर से समझाने जा रहा हूँ।' याज्ञवल्क्य ने अपने विषय का प्रवर्तन किया।

'मनुष्य के दक्षिण नेत्र में इन्ध नाम वाला पुरुष स्थित है। देवता इसे इन्द्र नाम से सम्बोधित करते हैं क्योंकि वे परोक्षप्रिय हैं। बायें नेत्र में इन्द्र की पत्नी विराट स्थित हैं।

ये दोनों भ्रुवोर्मध्य के आकाश में निवास करते हैं। वे हृदय से निकलने वाले नाड़ी संमूह के सहारे ऊर्ध्वगमन करते हैं। ये नाड़ियाँ प्रत्येक दिशा में स्थित प्राण तक पहुँचती हैं जो कि वस्तुत: अपनी आत्मा का केन्द्र है। यह आत्मा अग्रह्य (ग्रहण न किये जाने योग्य), आशीर्य (क्षीण न होने योग्य) तथा असंग और अबद्ध (अर्थात् बन्धन-रहित) हैं। अपने वास्तविक स्वरूप सम्बन्धी मनुष्य को यह ज्ञान और अनुभव हो जाने पर वह पूरी निर्भयता को प्राप्त हो जाता है।'

'आपका उपदेश निश्चित ही निर्मूल्य है,' जनक ने कहा। 'मुझे यह स्पष्ट हो रहा है कि मनुष्य की वास्तविक समस्या उस भय से मुक्त हो जाने की है जो एक संपूर्ण समापन की नियति (मृत्य!) के रूप में सदा सर्वदा उसके समक्ष विद्यमान रहता है। अत: जब उसका चैतन्य आत्मा से साक्षात्कार हो जायेगा तो उसे प्रकट होगा कि भौतिक देह छोड़कर भी वह यथावत् विद्यमान रहने वाला है। ऋषिराज, इस उपदेश की तुलना में वास्तव में मेरा संपूर्ण विदेह राज्य भी नगण्य है। अत: इस राज्य के साथ ही मुझे अपने सेवक के रूप में स्वीकार करें।'

याज्ञवल्क्य जनक के इस समर्पण भाव से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने जनक को यह आश्वासन दिया कि वे जनक के प्रत्येक प्रश्न का समाधान करने को प्रस्तुत हैं। अत: जनक ने अपनी प्रश्नशृंखला इस प्रकार जारी रखी—

'मनुष्य के कार्यों में किसका प्रकाश सहायक है?'

'सूर्य का प्रकाश। इस प्रकाश में ही मनुष्य उठता, बैठता, चलता और कर्म करता है।'

'सूर्य के भासमान न होने पर किसका प्रकाश उसकी सहायता करता है?'

'सूर्य के न रहने पर मनुष्य चन्द्रमा के प्रकाश में उठता, बैठता, चलता और कार्य करता है।'

'और चन्द्रमा के न होने पर?'

'अग्नि के प्रकाश में।'

'अग्नि के न होने पर?'

'वाणी की शक्ति से।'

'और इनमें से किसी के भी न होने की स्थिति में?'

'आत्मा के प्रकाश में। आत्मा ही मनुष्य की बुद्धि और इन्द्रियों का भी प्रकाश है। यही भासमान ब्रह्म की सत्ता है। उसका अस्तित्व जीवन के परे भी यथावत् है। भेद केवल इतना है कि जन्मकाल में यह ब्रह्म इन्द्रियों से सम्बद्ध होता है तथा मृत्युकाल में इनसे विलग। यह सत्ता जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति काल में भी विद्यमान रहती है। यह मनुष्य के कर्म तथा भोग की साक्षी है। स्वप्न का मायामय

संसार, सुन्दर और भयावह दृश्यावलियाँ आदि सब इसी का कार्य व्यापार हैं। यद्यपि यह मनुष्य की दृष्टि के परे है, किन्तु इसका आभास किया जा सकता है। कुछ लोग सोचते हैं कि मनुष्य की जाग्रतावस्था में ब्रह्म सुषुप्त और मनुष्य की सुषुप्तावस्था में ब्रह्म जाग्रत् रहता है। वास्तविकता यह है कि चाहे वह स्वप्नावस्था हो या जाग्रत्, ब्रह्म का दृष्टाभाव सदैव विद्यमान रहता है।'

'स्वप्न का मिथ्यात्व' जनक जी ने पूछा—'दार्शनिकों के संसारविषयक विचार प्रवर्तन का प्रमुख आधार रहा है। वे इसके द्वारा ईश्वर के स्वप्न (मायात्मक संसार) की असारवत्ता सिद्ध करते हैं। किन्तु एक व्यक्ति की जाग्रत् और स्वप्नावस्था में उसके आत्मतत्त्व की वास्तविक भूमिका क्या होती है?'

'जिस प्रकार एक बड़े जलाशय में रहने वाला मत्स्य पूर्व और पश्चिम के छोरों में भटकता हुआ अन्ततः पुनः जल केन्द्र में लौट आता है, तथा जिस प्रकार एक गगनगामी पक्षी आकाश की दूरियों में उड़ता हुआ पुनः अपने घोंसले में लौटता है, उसी प्रकार मनुष्य का आत्मा उसकी जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में विचरण कर अपने चेतनाकेन्द्र में स्थित होती है। जब एक मनुष्य स्वप्न में अपने ऊपर किसी हिंस्र पशु या प्राणी से आक्रमण होते हुए देखता है तो वस्तुतः वह अपने जाग्रत् काल का भय ही स्वप्न अवस्था में स्थानान्तरित करता है। किन्तु जिस प्रकार जागरण हो जाने पर भय या कष्ट शेष नहीं रहता उसी प्रकार वास्तविक आत्मसाक्षात्कार की अवस्था आने पर इच्छा, द्वेष, राग, संताप, पाप और पुण्य आदि के भाव तिरोहित हो जाते हैं। इस अवस्था में ज्ञान और अज्ञान, देव और दानव तथा ऊँच और नीच, स्त्री अथवा पुरुष आदि समस्त भेद समाप्त हो जाते हैं। इस स्थिति में पहुँचकर एक मनुष्य देखने, सुनने, सूँघने, स्वाद लेने और स्पर्श आदि की क्रियायें करता हुआ भी इनसे ऊपर ही रहता है। यह शुद्ध आनन्द चेतना की अवस्था है। इस अवस्था का आनन्द पूर्वजों, देवों, प्रजापति आदि की स्थिति से कई गुना अधिक होता है।

'वास्तव में अमरता की प्राप्ति के लिए जीव को मृत्यु के द्वार से गुजरना कोई अनिवार्यता नहीं है। यद्यपि दार्शनिकों, ऋषियों और विचारकों ने मृत्यु की क्रिया और मरणोत्तर जीवन की अनेक प्रकार से व्याख्या की है, किन्तु वास्तविक ज्ञान के आधार पर हुए इस ब्रह्म साक्षात्कार से समस्त इच्छा, शोक, राग-द्वेष आदि से ऊपर उठ कर एक मनुष्य इसी जीवन से अमरत्व प्राप्त करता है। यही कारण है कि इस भौतिक देह को धारण करके भी मैंने ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा अमरता की अनुभूति कर ली है। मुझे सदा यह प्रतीति है कि ब्रह्म ही सभी जीवधारियों का जीवन, सभी देखने वालों की दृष्टि, सुनने वालों का कान और मननशील का मन है। वास्तव में मरता वही है जो सभी प्राणियों और पदार्थों में इस एकत्व को नहीं देख पाता। आखिर स्वतः एक सार्वभौम और अक्षर ब्रह्म का ही स्वरूप होकर कोई मनुष्य मर भी तो कैसे सकता है।'

विदेहराज जनक को याज्ञवल्क्य से हुए ये सभी वार्ता-प्रसंग यथावत् याद हैं। वही ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य उनके जामाता की तरह आज उनके सामने खड़े रहकर उन्हें जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षात्कार एक सम चेतन प्रवाह में करा रहे हैं।

❖

आरण्यक

जिस युग और संस्कृति का अरण्य एक साक्षी है, उसमें आरण्यक सार्वभौम चेतन सत्ता के स्वयं भी दृष्टा थे। इसलिए याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी और जनक की तरह आरण्यक वेदों के भाष्य शतपथब्राह्मण का एक भाग मात्र न होकर उनकी कहानी में पृष्ठभूमि और पात्र दोनों ही हैं। जब चौड़े पलाश के पत्तों से बनी पर्ण कुटीरों में यज्ञ, अनुष्ठान और तपस्या के लिए संचित सामग्री के साथ दूर सघन बस्ती से गायों की लंबी कतार के शिरे पर एक राजपुत्री अपने कैशोर्य को विदा दे रही थी, तो कोलाहल शून्य कानन प्रकृति का क्रीड़ांगन बन गया था। कात्यायनी ने देखा कि याज्ञवल्क्य अपार गोधन के साथ-साथ एक निकटवर्ती धवल देवबाला के साथ प्रसन्नवदन चले आ रहे हैं। कात्यायनी आश्रमवासी शिष्य समुदाय के साथ आश्रमद्वार पर ऋषि के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। उसने देखा कि द्वार पर पहुँचकर ऋषि के पग कुछ धीमे पड़ गए हैं तथा वह युवती कुछ आगे कात्यायनी की दिशा में बढ़ रही है।

'दीदी।'

कात्यायनी के लिए यह सम्बोधन तो अब तक अछूता ही था। बिना किसी भाई अथवा बहन के अकेली ही पैदा हुई उसे कहाँ कभी किसी ने इस सम्बोधन से पुकारा? वह या तो अपने पिता के आश्रम में पुत्री रही या फिर यहाँ ऋषि याज्ञवल्क्य के आश्रम में आकर यकायक 'माता' हो गई है। अतः इस पुरुषप्रधान आश्रम में यह भगिनी कहाँ से अवतीर्ण हुई है!

'दीदी, क्या मैं आपकी चरण-रज ले सकती हूँ?'

कुछ ही पीछे खड़े याज्ञवल्क्य के मुख पर कात्यायनी ने कुछ वर्ष पूर्व एकान्त में पढ़ी मुस्कान का नया संस्करण उभरता देखा। अब इस पुस्तक को कात्यायनी कहाँ पढ़े—उसके सर्जक याज्ञवल्क्य की आँखों में अथवा इस स्नेहिल भगिनी के नमित मुख पर?

'न, न उठ बहिन उठ।' लगातार झुकती जा रही मैत्रेयी को कात्यायनी उठाकर अपने हृदय में समेट रही है। 'तुम जिस किसी भी अधिकार से यहाँ आई हो, वह सम्पूर्ण तुम्हारा है, बिना मेरे, किसी के भी कोई हस्तक्षेप के। मुझे लग रहा है कि

ऋषीश्वर मुनि रैक्व के समान राजा जनक से जानश्रुति की कन्या शुल्क की परंपरा में ज्ञानसभा के विजयोपहार में तुम्हें प्राप्त कर लाए हैं। अब इन्हें देशाटन को छोड़ आश्रम में रहना ही कितने दिन है। अत: मुझे अपने एकान्त की सहयोगिनी सौंपकर वे अब पूरी तरह से निश्चिन्त हो जाना चाहते हैं।'

यहाँ याज्ञवल्क्य मध्यस्थता कर सकते हैं।

इन दो सहचरियों को परस्पर इस प्रकार खो जाने की स्थिति में रास्ता तो उन्हें ही दिखाना है।

'देवियों, आपका एकान्त आश्रम के भीतर प्रतीक्षातुर है। अन्य शिष्य वर्ग को भी व्यवस्थाओं का भार उठाना है।'

'अब मैं इसे-इसे.............. ?' कात्यायनी ने याज्ञवल्क्य की ओर दृष्टि उठाई ही थी कि उसके कानों ने सुना—

'मैत्रेयी।'

'आह, कितना प्यारा नाम है तेरा मैत्रेयी, अच्छा है कि ऋषि कश्यप की पत्नियों दिति और अदिति जैसा नकार अथवा उत्तानपाद की रानियों सुनीति और सुरुचि जैसी प्रतिद्वंद्विता की बात इसमें कहीं नहीं है। चल, इस शुभ बेला में गृह प्रवेश कर।'

कात्यायनी अपनी दक्षिण भुजा को मैत्रेयी के बायें स्कन्ध पर रखकर उसे गृह प्रवेश कराती है। आगे कुछ शिष्य समुदाय स्वस्तिवाचन करता हुआ जा रहा है? आस-पास के घने पेड़ों की छाया कुटीरों के मध्य के आँगन को शीतल बना रही है।

● ● ●

पर्वत, नदी, घाटियों और सुदूर नगरों तक फैला महावन सागर की तरह अतल और आकाश की तरह अनन्त है। इसमें भटकता वही है जो इसकी थाह लेने चलता है अथवा इसे खंड-खंड में तोड़ पार देख सकने की चेष्टा करता है। ऋषियों में वह दृष्टि थी कि वे महाशून्य से इस आदि और अन्तहीन विराट् के आर-पार देख सकते थे। साक्षात्कार के लिए उनमें सजीव और चैतन्य पात्रों के इतिवृत्त रच लेने की भी सामर्थ्य थी। सीमित-सी आर-पार की दृष्टि से सामान्य लोग भी कुछ अर्थ ग्रहण कर सकें, इसके लिए भी कुछ ऋषि सचेष्ट रहते थे। कोलाहलशून्य अरण्य प्रदेशों में ऐसे ऋषियों के निकट बैठ कर जो ज्ञान प्राप्त हो सकता था, वह श्रुति, अभ्यास और अन्य प्रकार के अध्ययन से संभव नहीं था। इन ऋषियों के पास ज्ञान प्रदान कर पाने की अद्भुत विद्या थी। वे सामान्यतया अपनी शिक्षा उसी धरातल से आरंभ करते थे, जिस पर जिज्ञासु अवस्थित होता था। सत्य के साक्षात्कार की उनकी दृष्टि सांगोपांग और सकारात्मक हुआ करती थी। वे शिष्य को सत्य के साक्षात्कार के लिए उसके स्वानुभव के सहारे वे उसे आगे ले जाते थे। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, महाभूत और महत्तत्व की स्थूल से सूक्ष्म की इस क्रमिक यात्रा में साधक को किसी भी पड़ाव पर निराशा का सामना नहीं करना पड़ता था। वाक्, श्रवण, दृष्टि, जिघ्रण रस और स्पर्श आदि किसी भी ज्ञानेन्द्रिय के कोण से वे शिष्य को सूक्ष्म की यात्रा में ले जा सकते थे। उनका शास्त्रार्थ भी शास्त्रों

के संदर्भ अथवा तर्क के शुष्क धरातल के स्थान पर स्वानुभव और समान अनुभवों के एक समन्वित विकास क्रम पर आधारित होता था।

इनकी ज्ञान की पिपासा और इसे तृप्त करने की कामना इतनी प्रबल होती थी कि इसके लिए आवश्यक गुरु और शिष्य की सम्बन्ध स्थापना हेतु वे पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी आदि किसी भी सांसारिक सम्बन्ध का परित्याग कर सकते थे। एक छायादार पेड़ के नीचे कुछ ऊँचे आसन पर श्वेत श्मश्रुयुक्त वयोवृद्ध साधु के सामने एकत्र एकनिष्ठ युवा संन्यासियों का जिज्ञासु समूह—यही वह शब्दचित्र है जो सारांशत: उस संस्कृति को रूपायित करता है।

सभ्यता और ज्ञान के विकास का वास्तविक प्रतीक जीवन आरण्यक है अथवा महानगरीय, कहना कठिन होगा, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि उस समय ज्ञान पिपासुओं की विद्या की चाह उन्हें वन और आश्रमों की ओर ले जाती थी। इसमें दो मत कैसे हो सकते हैं कि प्रकृति की निकटता, एकान्त और समाज की समस्याओं से अनाक्रान्त अरण्य जीवन ही ज्ञान के उद्घाटन के लिए अधिक उर्वर हो सकता है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृतियाँ, पुराण और इतिहास आदि इतने विस्तृत वाङ्मय के सृजन, संरक्षण और संवर्धन का अरण्य से श्रेष्ठतर स्थान हो ही क्या सकता था।

देव, दानव और मनुष्यों को समान रूप से सुलभ वन-सम्पदा का संसार एक साथ इस प्रकार अन्य किस भूमि में मिल सकता है। अरण्य की नीरवता, संगीत, शिक्षा और रोमांच सबकुछ एकसाथ ही तो उपलब्ध है यहाँ—अब यह शिष्य की दक्षता और पात्रता पर निर्भर है कि उसने क्या प्राप्त किया।

अरण्य ही है प्रजापति। इसी की संतानें थीं देव, दानव और मनुष्य। अब पिता तो अपनी सभी संतानों का समान रूप से कल्याणकार भी होगा। अत: स्वाभाविक है कि वह सभी संतानों को एक ही शिक्षा दे।

जब इन तीनों संतानों ने अपने हित की कामना से अपने इस पिता से उन्हें अंतिम संदेश देने के लिए कहा तो इस पिता ने एक ही शब्द 'द' प्रदान किया। प्रजापति जी जानते थे कि शिक्षा जिस रूप में दी जा रही है, उसका महत्त्व नहीं है। वास्तविक महत्त्व तो उस शिक्षा को ग्रहण करने वाले की प्रकृति और चेतना के विकास की स्थिति का है। गुरु से शिष्य अन्तत: वही और उतना ही ग्रहण करता है, जितना कि वह चाहता है। गुरु की शिक्षा और दीक्षा का कुल मिलाकर असर इतना होता है कि इसके आधार पर विकसित वह अपनी तर्कबुद्धि से अपनी व्याख्या का आधार जरूर खोज लेता है।

अत: प्रजापति जानते थे कि ये शिष्य सन्तानें उनसे यह कभी नहीं पूछेंगी कि वे कृपा कर इस 'द' की व्याख्या भी कर दें। यदि वे यह पूछने का कष्ट उठाते तो उन्हें लगता कि प्रजापति फिर उन्हें नितान्त निर्बुद्धि समझ रहे हैं। अत: उनमें इस बात की होड़-सी लग गई कि कौन प्रजापति से पहले यह प्रकट करा सके कि उनके इस कूट

कथन का सही और गूढ़ार्थ केवल उसी ने समझा है। प्रजापति के लिए यहाँ इतने संतोष का कारण अवश्य था कि चूँकि तीनों ही उनके इस सूक्ष्म उपदेश का आशय सकारात्मक लेने को प्रस्तुत थे, अतः कुल मिलाकर इसके दुरुपयोग की आशंका नहीं बनती थी।

सबसे पहले देवताओं ने इसका आशय प्रकट करने की उत्सुकता प्रदर्शित की। मनुष्य और दानव भी चाहते थे कि देवों के अहंकार का कंटक सबसे पहले ही निकल जाये सो अच्छा। प्रजापति ने देवताओं की आगे आने की चेष्टा को समझते हुए कहा, बताओ, तुम्हें दी गई मेरी इस अंतिम शिक्षा का तुम क्या अर्थ लगाते हो?

'यह बिल्कुल आसान है, प्रजापति। आपने हम सबको 'दम्यत' (दमन करो) यह आदेश दिया है।'

'मैं प्रसन्न हुआ', प्रजापति ने कहा। 'तुमने अपने स्वभाव के संदर्भ में एक प्रकार से सही अर्थ लगाया है। तुम्हें अपनी भोग की प्रवृत्ति का संयम द्वारा दमन करने की आवश्यकता है। यदि तुमने अपनी भोगवादी संस्कृति का कालान्तर में परिहार नहीं किया तो तुम्हारी जाति पराजित होकर विकास की यात्रा में एकदम पिछड़ जायेगी।'

देवताओं को अब लग रहा था कि जब प्रजापति ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने प्राप्त शिक्षा का सही अर्थ समझ लिया है तो फिर उसे इतना और विस्तार देने की आवश्यकता ही क्या है। अतः शीघ्र प्रजापति से आज्ञा लेकर वे वहाँ से प्रस्थान कर गए।

दूसरे क्रम में मनुष्य आगे आए। उनका अनुमान था कि देवता अपने आपके प्रति श्रेष्ठताबोध की ग्रन्थि से चूँकि चिरपीड़ित हैं, अतः उन्होंने अपनी इच्छाओं और वासनाओं के दमन का संकल्प लेकर अपने आपको तीनों में श्रेष्ठ प्रतिपादित करना चाहा है, किन्तु यह भी तो उनका एक प्रकार का स्वार्थ ही हुआ। इन्द्रियदमन अन्ततः इन्द्रियों की आत्यंतिक तुष्टि की ही तो कामना पैदा करता है। इससे एक प्रकार से दूसरा भोगवाद ही जन्म ले लेता है। अतः वे अपनी व्याख्या में एक परमार्थ का परिचय दें तो इसमें प्रजापति अधिक प्रसन्न होंगे।

अतः प्रजापति के पूछने पर मनुष्यों का कहना था कि 'द' का अर्थ उन्होंने अधिक सही समझा है। 'प्रजापति जी इसके द्वारा 'दान' की शिक्षा देना चाहते हैं। हममें से बहुत से मनुष्य, यहाँ तक कि देव और दानव भी जिन आवश्यक वस्तुओं का संचय या संकलन नहीं कर पाते, उन्हें प्रदान कर देना ही सबसे बड़ा धर्म है। मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले यज्ञादि भी इसी दान की ही श्रेणी में आते हैं। वास्तव में देवों में जहाँ इसकी सामर्थ्य नहीं है, वहीं दानवों में इसकी वृत्ति का अभाव है। इस कथन ने दानवों को काफी क्रुद्ध कर दिया। एक बार तो उन्हें लगा कि मनुष्यों को यहीं और इसी समय सच्ची शिक्षा का पाठ पढ़ा देना अच्छा होगा, किन्तु तुरन्त ही उन्हें भास गया कि सद्यशः प्राप्त शिक्षा के इस दीक्षान्त अवसर पर उनके द्वारा दी गई यह परीक्षा सही नहीं

होगी। उनकी आक्रामक मुद्रा से मनुष्य भी भयभीत हो चुके थे, तथा प्रजापति से प्रस्थान की आज्ञा की प्रतीक्षा में ही थे कि दैत्यों को प्राप्त शिक्षा का सूत्र प्राप्त हो गया।

'प्रजापिता, मनुष्यों से हमारी इस प्रतिद्वंद्विता का अवसर प्रदान कर आपने हमें अपनी शिक्षा का सही अर्थ प्रदान कर दिया है। हमें लग रहा था कि देवताओं और मनुष्यों की व्याख्या के सही सिद्ध हो जाने के बाद जैसे हमारे लिए कहने को शेष ही कुछ नहीं बचा था, किन्तु वास्तविक और व्यावहारिक ज्ञान हमें ही प्राप्त हुआ है।'

'वह क्या है?' प्रजापति ने पूछा। 'दया'। दानवगण बोले। 'आप चाहते हैं कि हम अपने से कमजोर, कातर और निरीह प्राणी मनुष्यों पर दया करें। हम आपको वचन देते हैं, कि इस शिक्षा का ऐसे अवसर उपस्थित होने पर हम सदा ध्यान रखेंगे।'

प्रजापति मुस्करा रहे थे तथा दानवगण यह मानते हुए कि प्रजापति उनपर सर्वाधिक प्रसन्न हैं, आनन्दातिरेक में सघन वन प्रान्तों की ओर प्रस्थान कर गए।

● ● ●

गंगा की धार से कुछ ही दूरी पर बना है याज्ञवल्क्य का सुरम्य आश्रम। उत्तर की ओर से पहाड़ियों को चीरती गंगा का वेग यहाँ कुछ अधिक शांत हो गया लगता है। एक नदी के तट की यह साधारण-सी ऊँचाई भी किसी आश्रम अथवा निवास के लिए निश्चिंततापूर्ण नहीं कही जा सकती, किन्तु ऋषि याज्ञवल्क्य और उनके आश्रमवासियों को इस ओर से कभी भी आशंकित नहीं देखा गया है।

गंगा के पश्चिमी तट में स्थित इस आश्रम से जब प्रातःकाल कटि तक जल में स्थित ऋषि उदीयमान सूर्य का उपस्थान करते हैं तो उनके शिष्य समुदाय को लगता है कि उनका सूर्य से जैसे प्रत्यक्ष संवाद हो रहा हो। वे चाहते हैं कि ऋषि वैशंपायन स्वयं आकर यह देख लें कि यदि उन्होंने याज्ञवल्क्य को प्रदान की गई विद्या का उपयोग न करने का वचन ले लिया है तो याज्ञवल्क्य सीधे ही महत् तत्त्वों से ऊर्जा प्राप्त कर सकने में समर्थ हैं।

इधर कात्यायनी ने दैनिक हवन और अग्निहोत्र के लिए वेदिका तैयार कर रखी है। ऋषि गंगा-तट से लौटने को ही हैं। अब मैत्रेयी को भी हवन-कार्य के लिए आ जाना चाहिए। संभवतः अभी भी वह सारे श्रुत शास्त्रों को दुहराने में लगी है।

'मैत्रेयी, शीघ्र आओ, ऋषीश्वर लौटने में ही हैं।' कात्यायनी ने मैत्रेयी की निश्चिंतता में हस्तक्षेप करते हुए कहा।

'आई दीदी, कुछ क्षणों में ही पहुँचती हूँ मैं'। आश्रम के एक दूर के कोने से मैत्रेयी का आश्वस्त स्वर सुनाई देता है।

ऋषि आ गए हैं। उनके दोनों ओर दो और कृष्ण मृगचर्म बिछाए गए हैं। कात्यायनी उनकी प्रतीक्षा में ही है। ऋषि एक दृष्टि चतुर्दिक फैलाते हुए कहते हैं— 'मैत्रेयी?'

मैत्रेयी का शीश ऋषि के चरणों में नत है। याज्ञवल्क्य उसके ऊर्ध्वमुख होने की प्रतीक्षा में हैं। ठीक तो है धवल पारिजात उनकी पूजा-सामग्री में मिल रहा है। ऋषि परिवार प्रजापति की सामूहिक प्रार्थना में सन्नद्ध है—

सृष्टि के आदि में था हिरण्यगर्भ ही केवल
जो सभी प्राणियों का प्रकट अधीश्वर था
वही धारण करता था पृथ्वी और अंतरिक्ष
आओ उस देवता की हम उपासना करें हवि से.............. १

आत्मा और देह का प्रदायक वही है जिसके
अनुशासन में प्राणी और देवता सभी रहते हैं
मृत्यु और अमरता जिसकी छाया, प्रतिबिम्ब हैं।
आओ उस देवता की हम उपासना करें हवि से.............. २

प्राणवान और पलकधारियों का महिमा से अपनी
एक ही राजा है जो संपूर्ण जगती का
स्वामी है जो द्विपद और चतुष्पद जीवों का
आओ उस देवता की हम उपासना करें हवि से.............. ३

हिमाच्छन्न पर्वत ये महिमा बताते जिसकी
नदियों सहित सागर भी जिसकी यश-श्लाघा है।
जिसकी भुजाओं-सी दिशायें सुशोभित हैं
आओ उस देवता की हम उपासना करें हवि से.............. ४

गतिमान अंतरिक्ष, जिसमें धरती संधारित है
आदित्य और देवलोक का जिसने किया है स्तंभन
अंतरिक्ष में जल की जो संरचना करता है
आओ उस देवता की हम उपासना करें हवि से..............५

सबकी रक्षा में खड़े आलोकित द्यावा-पृथ्वी
अन्त:करण से निहारा करते हैं जिसको
जिससे ही उदित होकर सूरज सुशोभित होता
आओ उस देवता की हम उपासना करें हवि से.............. ६

महान् अग्नि के उद्घाटक और हेतु हिरण्यगर्भ के
जल में जब सारा संसार ही निमग्न था
एक तब देव प्राण-रूप की रचना जिससे
आओ उस देवता की हम उपासना करें हवि से.............. ७

महा जलराशि को अपनी महिमा से जिसने लखा
यज्ञ की रचना कर्त्री, प्रजापति की धारक जो
देवताओं के मध्य जो अद्वितीय देव है
आओ उस देवता की हम उपासना करें हवि से.............. ८

पीड़ित हमें न करे धरती का निर्माता जो
सत्यधर्मा वह जो अंतरिक्ष को बनाता है
पैदा की है जिसने विस्तृत सुख सलिल राशि
आओ उस देवता की हम उपासना करें हवि से.............. ९

अतिरिक्त तुम्हारे प्रजापति न दूसरा कोई
वर्तमान, भूत भावी पदार्थों में व्यापता जो
हमें मिले वह उपासना जिस कामना से यह
स्वामी बन जायें हम सारे सृष्टि वैभव के............. १०

● ● ●

'दीदी?'

'बोल छोटी, बोल-बोल मैत्रेयी। क्या कहती है?'

'दीदी', मैत्रेयी ने कात्यायनी पर भरपूर दृष्टि गड़ाई। कात्यायनी भोजनशाला की ओर प्रस्थान करने को उद्यत: खड़ी थी। मैत्रेयी ने अपराह्न के अपने अध्यवसाय को पूरा कर लिया था। वह चाहती है कि ऋषि उसे अपने शिष्यों को आत्मविज्ञान सम्बन्धी विषयों के अध्यापन का यदि कुछ कार्य दे दें तो इससे वह अपने समय का अच्छा उपयोग कर पायेगी। किन्तु तब तक.........'दीदी, आज इतनी शीघ्रता क्यों कर रही हैं? थोड़ा बैठिए न?'

'हाँ हाँ, मैं तुझे अच्छी तरह से जानती हूँ, तूँ अकेली चुप कहाँ बैठ सकती है। तुझे तो कुछ शास्त्र और शास्त्रार्थ हो तब तेरा मन भरे। अब देख मैं ठहरी गृहस्थिन। यदि तूने मुझे इस काम में लगा लिया तो ऋषिवर और समस्त शिष्य समुदाय को निराहार व्रत करना पड़ेगा।'

'दीदी', मैत्रेयी ने कात्यायनी का हाथ खींचकर अपने साथ बिठाया। 'कभी-कभी निराहार व्रत भी आश्रम में होना चाहिए। इससे आश्रमवासियों का शरीर शोधन तो होगा ही, क्षुधा और आपका विशेष माहात्म्य भी उनकी समझ में आ जायेगा।'

'देख, मुझे कुछ शिष्यों द्वारा लाए विशेष कंदों को उबालने के लिए रख आने दे। इनमें समय बहुत लगता है। मैं जल्दी ही लौटकर आती हूँ। इसके बाद मन भर कर बात करेंगे?'

कात्यायनी के लौटने की प्रतीक्षा में मैत्रेयी ने एक बार कात्यायनी की कुटीर में काफी कुशलता से संगृहीत सामग्री को देखा। आश्चर्य है कि दीदी इतने वस्त्र और आभूषण किस प्रकार सँजो कर रख सकी हैं। उसने कभी इनको पहने हुए तो उसे देखा ही नहीं है—ऐसा कोई अवसर भी आश्रम-जीवन में आयेगा, यह अनुमान भी उसे करते नहीं बनता। किन्तु इतने स्वर्णाभूषण, इतने वस्त्र और आभरण, दीदी सचमुच ही पूरी गृहलक्ष्मी हैं।

'अच्छा, तो तू चोर की दृष्टि से सब कुछ निहार चुकी है।' कात्यायनी ने काफी शीघ्रता से लौटकर कहा। 'बोल, तुझे कौन-कौन से आभूषणों की आवश्यकता है? वास्तव में त्रुटि मेरी है। मुझे पूर्व से ही इसमें से आधा भाग तुझे बाँट देना चाहिए।'

'क्षमा करें दीदी, मैं किसी आवश्यकता की दृष्टि से इस ओर नहीं देख रही थी। हाँ, मुझे आपकी संचय क्षमता पर एक सुखद आश्चर्य अवश्य है।'

'सच तो यह है मैत्रेयी', कात्यायनी अब स्वतः खड़ी हुई मैत्रेयी को अपने निकट बिठाते हुए कहती है, 'यह सबकुछ अयाचित ही मेरे पास आया है। मैंने इसी आश्रम में अभावों के अकल्पनीय अवसर भोगे हैं। किन्तु जब से ऋषिवर की ख्याति योग्य राजाओं की सभा में पहुँची है, तब से अभाव तो दूर हुए ही हैं, भविष्य की आकस्मिकताओं के लिए भी आवश्यक प्रबंध कर पाने की हमारी क्षमता हो गई है।'

'दीदी, हमें किस भविष्य की चिंता करनी है। हमारा भविष्य हमारे ऋषि का ज्ञान विहान है जो सदा हमारे पास प्रतिभासित ही है। और यदि ऋषीश नहीं हैं तो हम होकर भी तो नहीं हैं।'

'यह आश्रम, इस आश्रम की आवश्यकतायें और नित्य प्रति आने वाले अतिथियों का सत्कार हमारा परम धर्म है। तू स्वयं देखती है कि कभी-कभी तो कोई राजा ससैन्य ही यहाँ आ धमकता है। उसकी भोजन-व्यवस्था और सत्कार में कितना द्रव्य आवश्यक नहीं हो जाता? बरसात, सर्दियों, धूप में इस आश्रम के लिए प्रत्येक अवसर पर कुछ सामग्री और वस्त्रादिक नगर से बुलाने की आवश्यकता पड़ जाती है। और वास्तव में मैं तो उसकी एक भार साधिका ही हूँ न अन्ततः। स्वामी तो उसके ऋषिराज ही हैं।'

'दीदी, यह तो दूसरी बात में पड़ गईं आप। मैं तो आपसे आज कुछ और ही पूछने के लिए उपस्थित हुई थी।' मैत्रेयी ने कात्यायनी के विषय विस्तार को विराम लगाते हुए कहा।

'मैं जानती हूँ, तूँ क्या पूछना चाहती है।'

'सच? यदि ऐसा है तो मुझे कहने के कठिन बोझ से क्यों उबार नहीं लेती हो?'

'अब तू ठहरी ब्रह्मवादिनी-परा की पारमार्थिक शीतल बयार और मैं एक सांसारिक गृहस्थ स्त्री। मैं तेरे प्रश्न का समाधान कर सकती हूँ, यह मानना तो कठिन लगता है, किन्तु अभी, इस क्षण जो तेरी शिशुवत् जिज्ञासा मुखरित हो रही है, उसमें अवश्य लगता है कि तुझे मेरी आवश्यकता है।'

'आप सब जानती हैं। आप वय और अनुभव में मेरी माता के समान हैं। जब मैं अपने मातृहीन शैशव का स्मरण करती हूँ तो मुझे लगता है कि आपकी छाया में उस छिन चुके अतीत को लौटाकर एक बार पुनः उसे जी सकती हूँ।'

'देख पगली, जो बीत गया है, उसको वापस बुलाने में सार नहीं है। और जब तूँ मेरी सौत बन कर इस वनांचल में रहने आई है तो तेरा शिशु नहीं तुझमें रह रही स्त्री ही मुझसे बात करना चाहेगी।

'तूँ सोच रही है, तूँ पूछना चाह रही थी कि कात्यायनी दीदी में अपने प्रति किसी डाह की छाया क्यों नहीं दिख रही है? क्यों मुझसे मिलने के बाद तेरी समस्त स्त्री-सुलभ आशंकायें समाप्त हो गई हैं? यह ऋषि याज्ञवल्क्य के ही ज्ञान और तप का प्रताप है अथवा मुझमें ही साधना, ज्ञान अथवा अनुभव की ऐसी प्रखर क्षमता आ गई है कि तुझे मुझमें ईर्ष्या के लक्षण नहीं दिखाई देते।

'फिर तूँ यह भी सोचती है कि संभव है तेरी वीतरागता और वैराग्य वृत्ति ने ही तो कहीं मुझे इतना प्रभावित नहीं कर दिया है कि हम अपने सामान्य स्वभाव और संवेदना के ऊपर पहुँचकर कुछ अति मानस हो गए हैं।'

'चाहे मेरी चाह कुछ भी रही हो ज्ञान और विज्ञान की दीदी, और चाहे आगे इस दिशा में मैं कितना ही बढ़ जाऊँ, किन्तु आज और अभी तो मैं यही सोचती हूँ कि मेरे इस आश्रम के एकाधिकार को बाँटने के लिए आ धमकने से क्या आपको सचमुच ही कोई अड़चन नहीं हुई है? क्या एकबारगी आपका मन ऋषि याज्ञवल्क्य के इस नवोदित प्रौढ़ अनुराग से सचमुच ही विचलित नहीं हुआ है?'

'सच मानेगी मैत्रेयी—और मैं जानती हूँ कि इस पर संदेह करने के लिए तुझे कोई कारण नहीं होगा—मैं तो यही कहूँगी कि राग और द्वेष की इन वृत्तियों को जिन्हें हम सहज और जन्मजात कहते हैं, कभी-कभी हमारे दुर्बल व्यवहार पक्ष को बचाने के लिए हम केवल बहाने के रूप में खोज रखते हैं। अर्थात् थोड़ी भी समझदारी हमें इनसे

ऊपर उठा ले जाती है। और यह बात चूँकि मैं स्वयं एक परम विदुषी से ही कह रही हूँ, इसलिए इसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। रही मेरी बात, सो देख छोटी, इतने काम और व्यवस्था में यदि आश्रम में एक और सदस्य बढ़ गया तो मैं बोझ से कोई दब तो नहीं गई हूँ न?'

'दीदी, मैंने सुना है, और इसके सही न होने के कोई कारण भी नहीं है, कि महर्षि कश्यप, राजा उत्तानपाद और यहाँ तक कि महाराज दशरथ की पत्नियों के बीच का सौतिया डाह न केवल उन परिवारों के कलह का कारण रहा है, बल्कि उससे आगे आने वाली पीढ़ियाँ भी दुष्प्रभावित हुई हैं। मेरे यहाँ आ जाने से क्या आप आशंकित नहीं हैं?'

'मुझे लगता है मैत्रेयी कि नारी-मन एक असुरक्षा के भाव से ग्रसित होने के कारण ही इन अनावश्यक द्वन्द्वों को गढ़ता है। यह तूँ सहज ही अनुमान कर सकती है कि असुरक्षा का यह क्षणिक कल्पित बोध देव और दानवों की सनातन दूरी उत्पन्न कर देता है। पर तू तो सब समझती है। ये आशंकायें तेरे लिए नहीं हैं। रही मेरी बात, तो मुझे बचपन में महासती अनुसूंया के कहे हुए वाक्य आज तक स्मरण हैं—'प्रश्न उठता है कि एक स्त्री अपने पति की दूसरी पत्नी से ही क्यों डाह करती है, उसकी माँ, बहिन, बेटी अथवा विश्व की अन्य स्त्रियों से क्यों नहीं? कारण साफ है। यह उसका शुद्ध, निष्कल प्रेम नहीं है। यह सौतिया डाह उसमें अपने पति के प्रति एकाधिकार भाव को लेकर ही उत्पन्न हुआ है।' इसके बाद उन्होंने यह भी कहा था—

'तुम ऐसा न समझना कि मैं बहुपति या बहुपत्नीवाद का पक्ष ले रही हूँ। वास्तव में सत्व या सतीत्व सर्वथा पूर्वापेक्षा मुक्त होता है।'

'तो ऐसा समझ कि मैं एक प्रकार से तेरी प्रतीक्षा ही करती रही हूँ। और अब तू आ गई है, तो मुझे लगा है कि जैसे हमारे पविार में एक पूर्णता आ गई है।'

'मैं तो दीदी परिवार, गार्हस्थिक जीवन और पत्नी के पति के पूरकत्व के प्रति सदा से अनजान रही हूँ। आप से तो मेरी प्रार्थना ही यह है कि मुझे इस उत्तरदायित्व से मुक्त ही रखने की कृपा करें।'

कात्यायनी ने मैत्रेयी के ऊपर पहली बार प्रतियोगी दृष्टि को मुस्कराते हुए गड़ाया। मैत्रेयी लज्जा के भाव में तिरोहित हो रही थी।

'अब तूँ दाई से लाल तो छुपा नहीं सकती है, मैत्रेयी। यदि तुझमें कुछ ऐसा न होता जो मुझमें नहीं है, किन्तु जो महर्षि के व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए आवश्यक है, तो वे तेरा वरण ही क्यों करते? किन्तु हाँ, यदि तेरे भी बस के बाहर की इन भंगिमाओं ने उन पर उस समय कोई तिलिस्म कर दिया था, तो वह कोई दूसरी बात होगी।'

कात्यायनी ने देखा कि मैत्रेयी अब तक सचमुच ही पूर्ण प्रकृतिस्थ हो चुकी है। वह अतीत और वर्तमान को काफी पीछे छोड़कर किसी महत्तर भविष्य में झाँकने लगी है।

'मैं जानती हूँ बहिन', कात्यायनी ने अपना कथन जारी रखा, 'तू अपने वाक्-चातुर्य ही नहीं, अपने मौन की सिद्धि से भी किसी को पराजित कर सकती है। इसलिए अपनी मूल बात पर लौट आती हूँ।

'तूँ जानती है कि महर्षि कोई सामान्य गृहस्थ पुरुष-मात्र नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व की पूर्णता मात्र स्त्री और पुरुष के पूरकत्व की न होकर लोक और परलोक की सिद्धि का भी एकत्व है। किन्तु यह तो तेरे ज्ञान के क्षेत्र का विषय है। इसे तूँ कहीं ज्यादा अच्छी तरह से समझ और समझा सकती है।'

कात्यायनी ऋषि के पदचाप सुनकर अकस्मात् चुप हो गई है। याज्ञवल्क्य अपराह्न के सत्संग से निवृत्त होकर गंगा-तट पर दैनिक सन्ध्या को जाने के लिए अपना जल-पात्र लेने अंदर आए हैं। उन्होंने कात्यायनी के अंतिम वाक्य सुन लिए हैं।

'मैं तो भाग्यशाली हूँ देवि कि मेरे लोक और परलोक दोनों की पथप्रदर्शिकायें इतने मनोयोग से मेरी कल्याण-कामना में लगी हैं। किन्तु मैत्रेयी से ऐसी शिक्षा न ले लेना कि हमें आश्रम-संचालन करने के लिए किसी तीसरे व्यक्ति की नियुक्ति करना पड़े।'

'आप निश्चिंत रहें देव,' यह बारी मैत्रेयी की थी, 'दीदी ने आज आपके शिष्यों द्वारा लाए हुए विशेष कंदों का सुस्वादु व्यंजन बनाने का आयोजन किया हुआ है। सन्ध्या से लौटते हुए आप आज प्रसाद के लिए गंगा-तट के कुछ साधुओं को आमंत्रित कर सकते हैं।'

मैत्रेयी और कात्यायनी पर एक स्मित आभा उड़ेलते हुए मुनि शीघ्रता से गंगा-तट की ओर प्रस्थान कर जाते हैं।

● ● ●

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की रहस्य-तहों को अनावृत करने के लिए लगातार इतना कुछ कहा जाकर भी ऐसा वह क्या है जो इसे अपूर्ण ही रखता आया है सदा? मनुष्य हो या स्त्री, वे एक-दूसरे के इतने निकट रहते हुए परस्पर इतने आशंकित, आतंकित और उद्वेलित क्यों होते हैं। सब जानते, पहचानते और मानते हुए भी अपने असार्थक अतीत/व्यतीत को दुहराते हुए किससे विवश हैं वे—स्वयं से, प्रकृति से अथवा अपने विपरीत धर्म से? सार्थक और असार्थक से इस अतीत और वर्तमान से कौन-सी अर्थवत्ता उन्हें किसी सारयुक्त भविष्य की ओर ले जा रही है—मैत्रेयी सोचती है।

कात्यायनी के सुस्वादु भोजन से तृप्त आश्रम का निकटवर्ती ऋषि-समूह याज्ञवल्क्य से कृतज्ञता व्यक्त कर विदा ले चुका है। कात्यायनी परम तृप्ति का रसास्वादन करते हुए विश्राम की मुद्रा में है। उसकी दृष्टि उसके निकट ही खड़ी मैत्रेयी की ओर जाती है। वह इतनी देर से कात्यायनी की आतुर व्यवस्था को निहारती हुई लगभग इसी प्रकार खड़ी रही है, किन्तु उसे इस कार्य में कहीं भी अपनी भूमिका दिखाई नहीं दे रही

थी। कात्यायनी ने भी प्राय: उसकी ओर ध्यान न देकर इस गार्हस्थिक जिम्मेदारी का एकाकी ही निर्वाह किया है। किन्तु अब वह मैत्रेयी की युवादृष्टि में जिज्ञासु चंचलता पढ़ सकती है।

'दीदी, आप तो एक प्रहर से विद्युत् की तरह काम करती रही हैं अब शायद थक गई हैं। क्या जल्दी विश्राम करेंगी?'

'तू भी तो मेरे कार्य का निरीक्षण करती हुई थक गई होगी?' कात्यायनी ने कहा। 'मैं तो जैसे भूल ही गई थी कि मेरा काम बँटाने को भी कोई यहाँ है। पर, पर तुझे आए अभी कितने दिन हुए है? और फिर तेरी तो अभी क्रीड़ा के ही दिन हैं न?'

'असली कारण दीदी यह है कि मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे करना क्या है और यह कि मैं कुछ कर भी सकती हूँ। जब तक मैं अगले कार्य के सम्बन्ध में विचार कर उसके निर्णय की स्थिति में पहुँचती थी, तब तक आप उस काम को ही पूरा कर देती थीं। फिर यह भी विश्वास नहीं था कि यदि मैंने उसे किया तो उतनी कुशलता से कर पाऊँगी। इसलिए मैं चुप खड़ी रही।' मैत्रेयी ने अपनी स्थिति को स्पष्ट किया।

'अब तेरे सोचने और निर्णय लेने की प्रक्रिया पर मैं तो शास्त्रार्थ कर नहीं सकती हूँ, इसलिए अच्छा हो कि तूँ ऋषीश्वर के पास जाकर अपने ज्ञान की गठरी खोल। मेरी इच्छा तो अब विश्राम की हो रही है।'

यह कहते हुए कात्यायनी मैत्रेयी के निकट स्थित एक पीठ पर बैठ गई है। यह विश्राम की मुद्रा नहीं है, वह स्वयं जानती है। अत: यदि मैत्रेयी इसके बाद भी अपनी किलोल करती आँखों से प्रश्न करती है तो वह कात्यायनी के भार बोल तो सकती ही है—

'दीदी, आपके विवाह को लगभग दस वर्ष बीत गये हैं न?..................'

'अब यह गिनती तू ही लगाया करना।' कात्यायनी ने इस प्रश्न को यहीं ठहरा दिया। 'जब तक मेरे पिता मेरे लिए वर की खोज में भटक रहे थे तब तक अवश्य अपनी आयु के प्रत्येक दिन का मुझे ध्यान हो रहा था क्योंकि उसे मैं पिता की आँखों में पढ़ लेती थी। किन्तु विवाह के पश्चात् न तो इसका समय रहा है और न ही इस ओर कभी ध्यान ही जाता है।'

'किन्तु दीदी, कभी आपके मन में यह प्रश्न भी तो उठा होगा कि विवाह जीवन की एक घटना के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। हमारे जीवन का लक्ष्य, वह जो कोई भी हो, विवाह मात्र तो नहीं हो सकता। और वह जैसा पहले भी शेष था, बाद में भी शेष ही तो देखा जाता है।'

'अब देख मैत्रेयी, यह तो तेरा विचार-क्षेत्र है। इस पर तू ही अच्छी तरह से सोच-विचार कर। अपने पिता के आश्रम में रहते हुए कभी-कभी मेरे मन में इस प्रकार के प्रश्न आते भी थे, किन्तु इस विशाल आश्रम और निरन्तर वृद्धिगत शिष्य समुदाय की

व्यवस्था में इस ओर सोचने का किसे समय है। अब यदि तू जीवन के उद्‌देश्यों के वियावान में कुछ और भटकाती है तो रात्रि के तृतीय प्रहर के समाप्त होते ही जागकर ऋषि के ब्रह्ममुहूर्त के कृत्यों की कौन व्यवस्था करेगा ?'

'वह व्यवस्था आज मैं कर दूँगी। इसलिए थोड़ी और देर आपसे बात करना चाहती हूँ।'

'अच्छी बात है। तूँ महाराज की व्यवस्था करना। आज मैं गोशाला चली जाऊँगी। नई गोशाला को बने इतने दिन हो गए, उसमें मुझे जाने का अब तक अवसर ही नहीं मिल पाया है। लेकिन कह, तूँ क्या कहना चाहती है ?'

'दीदी, जब मेरा विवाह नहीं हुआ था, ऋषि याज्ञवल्क्य से साक्षात्कार भी नहीं हुआ था, तो मैं जैसे विचित्र प्रकार के अन्तर्द्वंद से आबद्ध और ग्रसित थी। कभी-कभी मुझे लगता था कि विवाह सर्वथा निरर्थक है, विशेषकर यह एक स्त्री की दासता का दस्तावेज है। किन्तु कभी कुछ विचित्र-सी व्यग्रता, उद्वेग और चुभन ऐसी भी होती थी जिसमें यह सबकुछ स्वत: परख लेने का एक आंतरिक आग्रह भी रहता था। जैसे मन का कोई कोना कहने लगता था कि बिना पुरुष संग का अनुभव किए उसके सार अथवा निस्सारता की मैं निर्णायक भी कैसे हो सकती हूँ!

'तुरंत ही मन में एक कौंध ठहर जाती थी। यह पूछती थी कि कहीं मेरे भीतर का यह कोई छुपा हुआ रस-स्रोत ही तो नहीं है, जो इस तर्क का आश्रय ले रहा है। उसके बाद नाना शास्त्रों के आलोड़न, मनन और चिंतन के बाद भी कुछ इतना समझ पाती थी कि कुछ ऐसा रहस्य है अवश्य, जो हमारे दृष्टा और मनीषियों से भी ओझल है। इतना सबकुछ कहने, समेटने के बाद वह जो छूटा हुआ है, उसे जानना, समझना और प्रकट करना तो जैसे आवश्यक ही है।'

'क्या अब उस रहस्य का पता तूने लगा लिया है ?'

'विडम्बना तो यही है दीदी। लगता है कि मरुस्थल की तरह जल स्रोत अथवा सीमा की तरह क्षितिज कुछ और दूर खिसक गए हैं। किन्तु आप और ऋषिवर साथ-साथ काफी चल चुके हैं। संभवत: आपको इस बात का पता चला हो कि दाम्पत्य के उस छोर पर क्या है।'

कात्यायनी ने इस प्रश्न को सुनने के साथ-साथ मैत्रेयी की आँखों में भी गहरे उतर कर पढ़ा। उसमें परीक्षा अथवा प्रतियोगिता का भाव नहीं था, इसे कात्यायनी अच्छी तरह समझ सकी।

'आज जब तूँ जीवन-परायण की इस पुस्तक के पन्ने इतने पीछे पलट रही है तो लगता है मैत्रेयी कि तेरी तरह के प्रश्न भी उठ सकते हैं। अन्यथा ऋचाओं के पाठ करते शिष्य जैसे अर्थ की बारीकियों में नहीं जाते वैसे ही जीवन के दिन, वार अथवा पक्ष सामने आकर हमसे कब अपना अर्थ पूछने खड़े होते हैं! मुझे यह भी लगता है कि इस

पचड़े में कितना भी क्यों न पड़ा जाय, कोई लाभ नहीं होने वाला। फिर यह कार्य जिस कुशलता से ऋषि महाराज कर रहे हैं, उससे समय आने पर मैं लाभ ले ही सकती हूँ— हाँ, यदि तूँ मेरे हिस्से पर आपत्ति नहीं करेगी।'

'यह मेरी प्रतिज्ञा भी मान सकती हो दीदी कि महर्षि के प्राप्तव्य में संपूर्ण की अधिकारिणी आप ही हैं। मुझे कष्टप्रद आश्चर्य ही होता है महाराज ययाति की उस नियति पर जिसने पत्नी देवयानी और शर्मिष्ठा की प्रतिद्वंद्विता में उन्हें असमय में वार्धक्य भोगने पर विवश कर दिया था।'

'मैं भी इस आख्यान से प्राय: विचलित ही रही हूँ। इतने दूरदर्शी और विचारक ऋषि द्वारा अपने शिष्य असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा को नीचा दिखाने के लिए अपनी पुत्री देवयानी के पति को वृद्ध हो जाने का शाप देना तो कैसे भी उचित नहीं था। और देवयानी को अन्तत: युगों के अभिशाप के आतिरिक्त मिला भी क्या है! फिर मैत्रेयी, बड़ी सौत को इस ध्रुव सत्य को तो स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि उसका पति बाद में लाई हुई पत्नी को अधिक ही चाहेगा।'

'जिस प्रकार पहले लाई गई पत्नी अधिक पतिव्रता और पतिसेवा परायण होती है,' मैत्रेयी ने तत्काल ही टोका। 'चाहे कश्यप की पत्नी अदिति को लिया जाय अथवा सुनीति या कि कौशल्या को।'

'किन्तु मैं दिति, सुरुचि अथवा कैकेयी की तरह तुझसे किसी भी प्रकार आशंकित नहीं हूँ, मैत्रेयी। अब मुझे तुझसे, तेरे ज्ञान-ध्यान से कोई प्रतियोगिता तो करनी नहीं है। फिर तुझमें संतति वृद्धि की भी वैसी कोई कामना नहीं है जो सपत्नियों में द्वेष और प्रतिद्वंद्विता को जन्म देती है।

'अब मैं अपनी पिछली बात की ओर ही मुड़ती हूँ। सच मान मैत्रेयी, मुझे लगता है कि तेरे प्रश्न का समाधान मेरी तुलना में तेरे पास ही कहीं अधिक है। इतना अवश्य मुझे लगता है कि दर्शन की मरुभूमि से भी क्या कभी कोई तृप्त होकर निकल पाया है? आखिर इस मरीचिका में मनुष्य अपने वर्तमान को कब तक और किस सीमा तक तिलांजलि दे?'

'मैं नहीं कहती दीदी कि आपने सत्य का छोर नहीं पकड़ा है। हममें से अधिकांश की विडम्बना यही है कि वर्तमान की कीमत पर या तो हम अतीत को हरा करते रहते हैं अथवा भविष्य की प्रतीक्षा करते हुए बैठ जाते हैं। वास्तव में जो हमारे हाथ में है वह तो वर्तमान ही है तथा उसे सँवारने और सुधारने की हमारी जो क्षमता है, वह अन्यथा कैसे उपयोग में लाई जा सकती है? किन्तु जैसे हमारा मस्तिष्क शिर के पृष्ठभाग में हमारे अतीत के विश्लेषण और दृष्टि आगे भविष्य को ही देखने के लिए है, इसी तरह वर्तमान तो जैसे बहुत ही कम अंश में हमारे पास शेष बचता है। सच्चे अर्थों में यदि सबसे अधिक क्षणभंगुर कोई सत्ता है तो वह वर्तमान की ही है। अत: हम यदि

वर्तमान से अपने आपको बाँध रखते हैं तो इससे सनातन और शाश्वत जीवन मूल्यों के छूट जाने की आशंका होती है।

'इसलिए मुझे लगता है कि हमारे लौकिक सम्बन्ध, व्यवहार और दर्शन के समानान्तर कोई रेखा शाश्वत और सनातन मूल्यों को भी खिंचती चलती है। मुझे बराबर यही लगता रहता है कि वर्तमान तो अब छूटा, अब गया। अतः भविष्य जो भी है, जितना भी हो, उसका जीवन सत्य की खोज में तो उपयोग होना चाहिए। हाँ, वर्तमान का अधिकतम उपयोग प्राप्त सत्य की समीक्षा में अवश्य किया जा सकता है।'

'तूँ अपने इस दर्शन और ज्ञान की समीक्षा जब महर्षि जी के साथ बैठकर करेगी तभी तेरी संतुष्टि होगी, यह मैं जानती हूँ' कात्यायनी ने कहा। 'मुझे तो अब एक प्रकार से तूने निराश ही जो कर दिया है। तूने तो जैसे अब तक की परम्परा के सपत्नियों के प्रतिद्वंद्विता के सिद्धान्त को ही समाप्त कर दिया है। लेकिन बड़ी होने के नाते तुझे इतनी सलाह तो मैं दे ही सकती हूँ कि तूँ इतना संसार तो कम से कम सँभालना सीख कि मेरे न रहने पर अपना भरण-पोषण और ऋषि की सेवा के धर्म का तो निर्वाह कर सके।'

'न न दीदी, बिना आपके तो इस आश्रम की कल्पना ही व्यर्थ है। जब भी महर्षि को किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ती है या शिष्यगण किसी व्यवस्था में लगते हैं, तो वे सब आपकी ओर ही तो ताकते हैं। सचमुच ही मुझे उस स्थिति की कल्पना ही असंभव है जब इस कार्य के लिए आप यहाँ नहीं होंगी। हाँ, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे तो सबकुछ एक भार ही प्रतीत होता है। मैं अक्सर सोचा यही करती हूँ कि सामान्य संसारियों, गृहस्वामियों और हम आश्रमवासियों में अन्तर भी कितना और कहाँ है? जिस प्रकार से वे अपने परिवार के सदस्यों, पशुओं और अतिथियों का भरण-पोषण करते हैं, हम भी वही कर रहे हैं। हमें भी धन, वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है और अभावों से लड़ना पड़ता है। तब इस अरण्यवास की क्या आवश्यकता है। हम भी तो महानगरों के राजा-महाराजाओं, श्रीमन्तों और धनपतियों की ही तरह जीवनयापन कर रहे हैं। यह सब करते हुए तथा अपने संचित और संग्रहीत पदार्थों की रक्षा करने में ही हमें अपना जीवन व्यतीत करना है तो सत्य साक्षात्कार और आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए हमारे पास समय ही कहाँ है?'

'पता नहीं मैत्रेयी, कभी-कभी मुझे लगता है कि तूँ सचमुच ही इस धरती की मानुषी न होकर किसी दूसरे ही लोक की बाला है। तेरी यह बात तो मेरी बिल्कुल ही समझ नहीं आती। हम आश्रमवासियों और नगरों, महानगरों के गृहपतियों के जीवन में बहुत अन्तर है। यहाँ यदि हमने भी अन्न, पशु और जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता की वस्तुओं का संग्रहण किया है तो केवल इसीलिए कि हमें संसार, प्रकृति और शरीर के धर्मों का तो निर्वाह करना ही पड़ेगा। फिर यहाँ आश्रम में निरन्तर अध्ययन, अध्यापन और सत्संग तो चलता ही रहता है। नगरों के संघर्ष, प्रतिस्पर्धायें और कलह

से शून्य इससे श्रेष्ठतर दूसरा कौन-सा स्थान तुम्हें मिल सकता है? और सचमुच ही तुम्हें यदि संपूर्ण और शुद्ध एकान्त की ही कामना थी तो फिर तुमने विवाह ही क्यों किया?'

मैत्रेयी का यह प्रश्न अप्रत्याशित नहीं था। इस प्रश्न को उसने स्वयं अपने आपसे भी अनेक बार पूछा है। यह बात दूसरी है कि जब वह इसके उत्तर के प्रति अपने आपको स्वयं आश्वस्त नहीं कर सकी है तो क्या कात्यायनी को कर सकेगी?

मैत्रेयी को यह अनुमान संतोषकारक है कि कात्यायनी ने यह प्रश्न उसे टटोलने के लिए नहीं बल्कि स्वभावतः उठने वाले प्रश्न के क्रम में ही प्रस्तुत किया है।

'यह मैंने तुम्हें निरुत्तरित करने को नहीं पूछा है मैत्रेयी', कात्यायनी ने मैत्रेयी के स्वकथन के क्रम को भंग करते हुए कहा। 'तुम्हारा यह विवाह तुम्हारी पूर्णता की दिशा में प्रगति का एक सोपान ही तो है—अपने मूल बन्धनों और बाधाओं सहित। और जब तुमने या तुम्हारी नियति ने इसे स्वीकार कर लिया है तो अब इससे पृथक् तो कोई मार्ग मुझे दिखाई देता नहीं है जहाँ से तुम किसी अछूते एकान्त की ओर प्रस्थान कर सको। इसलिए यह सब मुझे अकस्मात् कह आया है।'

'उत्तर तो दीदी तुमने दे ही दिया है अतः मुझे वैसे भी कुछ कहने को शेष नहीं है' मैत्रेयी ने कहा, एक यात्रा भर को अपना अभीष्ट कोई कैसे मान सकता है? हमारी गति किसी न किसी गन्तव्य की ओर ही तो हमें ले जायेगी। गन्तव्य तो दीदी वहाँ भी है जहाँ चलते या न चलते हुए आपको स्वयं पता नहीं है कि जाना कहाँ है। इसलिए यात्री यदि दिशा और दिशा के छोर का ज्ञान करके चलता है तो उसकी प्रगति उसकी तुलना में निश्चित ही तीव्रतर होगी जो एक अँधेरी गुफा में चल रहा है। किन्तु आगे प्रश्न फिर वही है—वह पता कैसे चलेगा, कहाँ चलेगा कि हमें कहाँ जाना है? और वास्तव में यह जाना-आना कुछ है भी या केवल यह एक जागरण है जो इस क्रिया को अक्रिया के रूप में देख सकता है?

'देख मैत्रेयी, तेरे जागरण ने रात्रि के दो प्रहर बिता दिये हैं। अब एक प्रहर ही हमें सोने के लिए बचा है। चौथे प्रहर के आरम्भ में ऋषि भी जाग जायेंगे, जिनके नित्य कर्म की तत्काल व्यवस्था आवश्यक है। अतः अब मैं तो सोने जा रही हूँ।'

मैत्रेयी को लगा कि सचमुच ही थकी कात्यायनी पर वह बहुत बोझ डालती गई है। किन्तु आज वह स्वतः काफी हल्का महसूस कर रही है।

'आप सचमुच ही विश्राम करें दीदी। और मेरी प्रार्थना है कि आप प्रातः ठीक सूर्योदय के काल में ही उठें। मुझे अभी सोने की कोई इच्छा नहीं है। मैं एक प्रहर तक ध्यान योगाभ्यास करना चाहती हूँ। चतुर्थ प्रहर ऋषि के जागरण पर मैं उनकी नैमित्तिक व्यवस्था कर दूँगी।'

● ● ●

मधुकाण्ड-उत्तर

'महाराज', मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य की कात्यायनी के प्रस्थान की दिशा में अभिकीलित दृष्टि को परावर्तित न होते देख कहा, 'दीदी, अपने काम में लग गई हैं। वे आपकी प्रतीक्षा के उत्तर में तो आने से रहीं। हाँ, यदि उनकी ही आवश्यकता है, तो मैं जाकर उन्हें भेज देती हूँ।'

'नहीं मैत्रेयी, तुम बैठो।' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'मैं वास्तव में तुम दोनों से ही एक-साथ बात करना चाहता हूँ। आज मैं जिस निर्णय को लेने जा रहा हूँ, उसके साक्ष्य और समर्थन के लिए तुम दोनों का ही उपस्थित रहना आवश्यक है।'

मैत्रेयी ने देखा कि ऋषि की दृष्टि अभी भी यथावत स्थिर है। वास्तव में वह कात्यायनी के प्रस्थान की दिशा में न होकर एक शून्य में ठहरी हुई है। जैसे इस क्षण मैत्रेयी की उपस्थिति को भी वह स्वीकार नहीं कर सकी है। ऋषि के व्यवहार का यह परिवर्तन एक प्रकार से असामान्य ही है।

'दीदी ने कहा भी था कि उनकी आवश्यकता होने पर उन्हें बुला लिया जाय। आपकी अनुमति हो तो मैं उन्हें बुला लाती हूँ?'

ऋषि की अछोर आँखें मैत्रेयी के प्रश्न पर टिक गई हैं। इनमें स्वीकार है या नकार अथवा एक पराभाव, मैत्रेयी सहसा निष्कर्ष नहीं निकाल पा रही है।

'मैत्रेयी', कात्यायनी का निकट होता हुआ स्वर सुनायी देता है। उनके हाथ में कुछ पुष्प और फल हैं। 'लो मैत्रेयी, अपनी परा की पारमार्थिक बयार को इन पुष्पों से कुछ और सुगंधित बना लो। अब शिष्यगण महर्षि को प्रणाम करने आते ही होंगे। अतः इन्हें वितरण के लिए अपने पास रख लो।'

'दीदी, आप बैठिए। ऋषीश्वर अभी आपका स्मरण ही कर रहे थे।' मैत्रेयी ने कात्यायनी के प्रतीक्षित आगमन पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा।

'ऋषिराज अच्छी तरह से समझते हैं कि आप दोनों की ब्रह्म-विज्ञान वार्ता में मेरी कोई भूमिका नहीं है। अतः मुझे अपना काम ही कर लेने दे मैत्रेयी।'

यह कहते हुए कात्यायनी ने अपनी दृष्टि को याज्ञवल्क्य के ऊपर से समेटकर मैत्रेयी के ऊपर डाला, किन्तु मैत्रेयी चुप ही रही। उसे अब वार्ता का सूत्र ऋषि द्वारा स्वयं ग्रहण कर लेने की प्रतीक्षा थी।

'बैठो कात्यायनी, बैठो? मुझे तुम दोनों से ही कुछ कहना है।' याज्ञवल्क्य ने अपनी विचारशील मुद्रा को कुछ विगलित करते हुए कहा।

कात्यायनी को लगा कि दूर संवेगी यंत्र से जैसे ऋषि और मैत्रेयी काफी देर से यद्यपि मौन ही बैठे हुए थे, किन्तु इनके अन्तर के संवाद को वह पढ़ सकती है। यह

निश्चित ही किसी शास्त्री का आलोड़न अथवा दर्शन की गुत्थी के सुलझाने का कार्य नहीं था। क्या अब यह आश्रम भी सौतों की समस्या का केन्द्र बन गया है ?

'नहीं कात्यायनी, जैसा तुम सोच रही हो, वैसी कोई समस्या हमारे आश्रम में उत्पन्न नहीं है', याज्ञवल्क्य ने कात्यायनी के मनोभावों को पढ़कर उनका स्पष्ट तौर पर समाधान किया। 'और वास्तव में यदि तुम इसे समस्या कहना भी चाहती हो तो यह समस्या मेरी है, जिसके लिए तुममें से कोई भी उत्तरदायी नहीं है।'

'यदि आपकी कोई समस्या है,' यह बारी मैत्रेयी की थी, 'तो महाप्रभु कृपा कर उसे प्रकट कर दें। संभव है परस्पर चर्चा से उसका कोई समाधान भी निकल आए।'

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को निर्निमेष देख रहे हैं। किन्तु यह दृष्टि एक शून्य से दूसरे शून्य को ही जोड़ने वाली है। मैत्रेयी जानती है कि यह एक ऐसा संप्रश्न है जिसका कोई उत्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में वह एक प्रश्न और उत्तर दोनों ही तो है।

याज्ञवल्क्य ने देखा कि मैत्रेयी की दृष्टि में कहीं कुतूहल नहीं है। दूसरी ओर उसमें आश्वस्ति का बोध कराती उसकी अम्लान आभा अवश्य है, जिसकी चिरावस्था के प्रति उन्हें भी कोई आशंका नहीं होती।

अब उन्हें अपना मन्तव्य प्रकट करना ही योग्य है। 'देवियो,' कात्यायनी और मैत्रेयी ऋषि के एकदम भिन्न स्वर में यह सम्बोधन सुन रही हैं। 'इस आश्रम में हमें रहते हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो गए हैं। देवि मैत्रेयी को यद्यपि अपेक्षाकृत कम समय बीता है, किन्तु उनके चिन्तन की गहराई और विचारों की गंभीरता को ध्यान में रखते हुए मैं कह सकता हूँ कि उनका यह अल्पकाल भी एक संपूर्ण सामान्य गृहस्थ के जीवन से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

'किन्तु गृहस्थ और वानप्रस्थ जीवन की इतनी सुदीर्घ आयु व्यतीत कर चुकने के बाद मुझे यही लगता है कि अब जीवन के अंतिम आश्रम में प्रवेश का समय आ गया है और इसमें किसी भी प्रकार का विलम्ब उचित नहीं है। इस अवसर पर प्रथम मानव मनु का यह संदेश बार-बार मेरे कानों में स्मृतिरूप में गूँज रहा है—

'यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥'

'मुझे स्मृति के इस सत्य की दृढ़ प्रतीति हो रही है कि वास्तविक ब्राह्मण को प्रव्रज्या ग्रहण कर अपनी निर्वैरता से सभी प्राणियों में अभय का भाव भरना आवश्यक है। ब्रह्मवादियों के तेजोमय लोक को प्राप्त करने का निश्चित ही यह एक श्रेष्ठतर मार्ग है।'

'निर्वैरता और अभय दोनों की आपकी आकांक्षा से मुझे आश्चर्य ही होता है ऋषिवर', कात्यायनी ने कहा। 'अभी भी आपका जीवन एक संन्यासी से किसी भी

तरह न्यून नहीं है। आखिर आपसे भय और बैर किसे हो सकता है ? फिर भूमण्डल में मेरी दृष्टि में आपसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता कोई है भी नहीं'।

'मैं यह कैसे भूल सकता हूँ देवि कात्यायनी', 'याज्ञवल्क्य ने कहा, कि शास्त्रार्थ में पराजित कर देने से कितने शास्त्रज्ञों और विद्वानों के बैर का भाजन मैं नहीं रहा हूँ। और यह तो किसी भी तरह से विस्मरण योग्य नहीं है कि शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान और ब्रह्मज्ञान शास्त्रार्थ के लिए तो बहुत उपयोगी हो सकता है, किन्तु आत्म साक्षात्कार तो उससे नहीं हो जाता।'

'ठीक है। आपका कथन संपूर्ण सत्य ही है, किन्तु आपको अपने ध्येय की प्राप्ति में संन्यास ही सहायक हो सकता है, यह समझ पाना मेरे लिए कठिन है।' कात्यायनी ने कहा। 'मेरी समझ में संन्यास तो एक प्रकार की त्याग की वृत्ति ही है, जिसका धरातल मानसिक भी हो सकता है।'

'तुम ठीक कह रही हो कात्यायनी। वास्तव में संन्यास का धरातल मानसिक ही है, क्योंकि भौतिक रूप से पदार्थों का परित्याग कर यदि मन उनसे आबद्ध रहता है तो वह तो मिथ्याचार ही होगा।' ऋषि एक क्षण के लिए ठहरे। इसके बाद उन्होंने पुनः बोलना आरम्भ किया। यहाँ कात्यायनी को यह अनुमान कठिन होने लगा कि आगे का सम्बोधन कात्यायनी के लिए है अथवा ऋषि स्वयं से ही कोई वार्तालाप करने लगे हैं।

'भारतीय आश्रम व्यवस्था सनातन और पूर्ण वैज्ञानिक है। जब हम मन से आसक्ति की बात करते हैं तो उसका आशय यही है कि शरीर और मन दोनों की आसक्ति होती है। दूसरे शब्दों में हमारे अनुभव की संपूर्णता चूँकि दोनों ही धरातलों से सम्बन्धित है, अतः हमारा अभ्यास और प्रशिक्षण दोनों ही धरातलों पर होना आवश्यक है। इसलिए यदि कोई यह दावा करता है कि वह केवल मानसिक अभ्यास से त्याग या अनासक्ति की पूर्णता प्राप्त कर लेगा तो यह प्रवंचना ही है। इसी तरह भौतिक दृष्टि से निस्संग रहते हुए मानसिक स्तर पर वासनाओं में संलग्न रहना एक मिथ्याचार है। अतः विधेय यही है कि भौतिक देह और मन दोनों के ही स्तर पर वैराग्य का पोषण हो। हमारी सनातन व्यवस्था के तृतीय वानप्रस्थ आश्रम के बाद संन्यास की आवश्यकता इसीलिए बताई गई है। अतः इस दिशा में अब मेरे द्वारा भी लिया गया यह निर्णय अंतिम है।'

याज्ञवल्क्य ने देखा कि उनकी दोनों पत्नियाँ दत्तचित्त होकर उनके आत्मालाप को सुन रही हैं। किन्तु संभवतः उन्हें यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि ऋषि उनसे क्या अपेक्षा कर रहे हैं।

'मैं जानता हूँ कि मेरे गृहस्थ और वानप्रस्थ दोनों ही आश्रम-काल में आप दोनों देवियों ने मेरे जीवनोद्देश्य की प्राप्ति में भरपूर सहयोग किया है। इससे भी अधिक

प्रसन्नता मुझे इस बात की है कि आप दोनों ने सपत्नियों के डाह और कलह की चिरकालीन परंपरा को भी अपने सौहार्द से समाप्त किया है। मैं नहीं चाहता कि मेरे यहाँ न होने पर आप दोनों में किसी भी प्रकार ये प्रवृत्तियाँ आगे भी उभरें। अत: मैंने यही निर्णय लिया है कि इस आश्रम का प्रचुर धन, पशु और भूमि आदि का आप दोनों में समान रूप से वितरण कर दूँ ताकि भविष्य में आप दोनों के बीच द्वन्द्व अथवा डाह का कोई कारण शेष न रहे।'

याज्ञवल्क्य मौन हो गए हैं। उनकी आँखें पूरी तरह से बन्द हैं। उन्हें कात्यायनी और मैत्रेयी के प्रतिक्रिया भावों को जानने की उत्सुकता नहीं है।

कात्यायनी जानती है कि ऋषि का संकल्प भित्ति की तरह अचल रहता है। उन्हें उनके किसी भी निश्चय से डिगा पाना असंभव जैसा है। यह ठीक है कि वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में और आगे बढ़ना चाहते हैं। ऐसा लक्ष्य जिसे वे कहीं ज्यादा अच्छी तरह से समझते हैं। अब उसमें यदि वह साथ नहीं चल सकती तो उसे बाधा भी उत्पन्न करना उचित नहीं है। उसने कहा—

'महाराज, मैं आपके लोक और परलोक, किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार से बाधक नहीं बनना चाहती। मैं जानती हूँ कि आत्मज्ञान के क्षेत्र में आपसे किसी की कोई तुलना नहीं हो सकती। यह आपकी अपनी विशिष्ट उपलब्धि का क्षेत्र है। इसमें मेरी अपनी सीमा है। अस्तु, आपने जो निर्णय लिया है, वह ठीक ही है। अत: मैं आपके संकल्प को अपने लिए आदेश के रूप में स्वीकार करती हूँ।'

कात्यायनी से निवृत्त होकर ऋषि की दृष्टि मैत्रेयी पर टिकती है। मैत्रेयी ने जैसे अपने आपको कहीं दूर फेंका हुआ है। जब वह वहाँ है ही नहीं तो ऋषि किससे उत्तर की प्रतीक्षा करें।

मैत्रेयी ने देखा कि ऋषि की प्रश्नाकुल दृष्टि उसे बींध रही है। कात्यायनी किसी गहन गंभीर सागर के किनारे छिटककर पहुँच चुकी है। उसकी भी आँखें पूछ रही हैं कि याज्ञवल्क्य के इतने स्पष्ट आदेश के बाद मैत्रेयी को विचार के लिए क्या फिर भी कुछ बचा हुआ है?

क्या बचा है मैत्रेयी के लिए? क्या मैत्रेयी को किसी वस्तु की चाह है? हाँ, संभवत: किन्तु क्या?

मैत्रेयी को बहुत विचार करना पड़ेगा। क्या उसे ऋषि याज्ञवल्क्य के गृहत्याग का संताप है? नहीं उसने ऋषि के ऊपर कब और कहाँ एकाधिकार स्थापित करना चाहा है? फिर ऋषि के महत्तर मार्ग की उसे प्रतीति है। वह उन्हें उनके प्रकृत पथ से कैसे भी विरत नहीं करेगी। क्या उसे धन, सम्पत्ति या सुयश की कामना है? किन्तु यही सर्वाधिक विधेय होता तो महर्षि इसका परित्याग ही क्यों करते?

वह क्या है जिसके लिए ऋषि संसार का त्याग करना चाह रहे हैं? वह क्या है जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम में प्राप्त नहीं किया जा सकता?

पर उसके तो प्रश्न में ही अन्तर्विरोध है। यदि किसी को एक भवन के शीर्ष पर जाना है तो उसे सीढ़ियों का सहारा तो लेना ही पड़ेगा? यहाँ यह प्रश्न एकदम असंगत है कि पहली, दूसरी या तीसरी सीढ़ी से ही वह छत पर क्यों नहीं पहुँच सकता? उसे अंतिम सीढ़ी तक ही चढ़ना क्यों जरूरी है?

यथार्थ में उसका जो वास्तविक प्रश्न है वह यही है कि वह जो छत है, जो अंतिम छोर है, वह क्या है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि लक्ष्य तो उसका भी वही है, किन्तु अभी उसने उसे साधा नहीं है। उसकी दृष्टि में ऋषि की पारदर्शिता अभी नहीं आ सकी है?

यह क्या? ऋषि की दृष्टि उसकी संपूर्ण चिन्तनधारा के साथ बह रही है? अच्छा हो अब इस अनियन्त्रित प्रवाह में पतवार उन्हीं को सौंप दूँ।

'मैं नहीं समझती हूँ ऋषिवर,' मैत्रेयी ने चिन्तन के शिल्प में ही धीरे-धीरे कहना आरंभ किया, 'कि आपके इस निर्णय की परिपूर्णता में मेरी भूमिका क्या है। संभवतः मेरा यह अज्ञान मेरे द्वारा आपके निर्णय की सूक्ष्मता पर ध्यान न दे पाने के कारण है? यदि मैंने बिना समझे हुए आपके संकल्प को आदेश के रूप में यथावत् स्वीकार कर लिया तो यह तो एक प्रकार से प्रवंचना ही होगी।

'मैं जानती हूँ कि वर्तमान के भारतीय आचार्यों में इतना बड़ा ज्ञान-साधना का आश्रम कोई दूसरा नहीं है। आपके द्वारा संचित यह विस्तृत क्षेत्र, अपार धन और पशु समुदाय आपकी ज्ञान साधना की ही सिद्धि है। मुझे स्मरण है कि बड़ी धर्मसभाओं राजदरबारों में जब भी आप शास्त्रार्थ के लिए प्रवृत्त हुए हैं, तो आपने स्वयं स्वीकार किया है कि सूक्ष्म चर्चा और धन-कामना दोनों ही आपको वहाँ खींच ले गई है।

'आपकी ऐसी स्वीकारोक्ति आपकी निश्छलता को तो प्रकट करती ही थी, मैं यह भी अनुमान करती हूँ कि आपके जीवन में नकार को स्थान नहीं था। हमारे विकास की यात्रा में भौतिक बाधाएँ तो अपने स्थान पर हो सकती हैं, किन्तु सबसे बड़ी बाधा तो हमारा अस्वीकार ही है, जो हमारे संकल्पों को आधे समय लड़ने में लगाए रखता है।

'मैं जानती हूँ कि वस्तुओं और पदार्थों की इस स्वीकृति में निश्चित ही उनका उचित स्थान और उपयोगिता आपने स्वीकार की थी। मुझे वह कथानक विस्मृत नहीं होता जो ऋषि कर्दम और देवहूति के अनुपम योग और भोग की परकाष्ठा प्रकट करता है। जो ऋषि अपने तप और त्याग में विद्रूप और जड़वत् हो चुके थे, उन्होंने अपनी प्रिया की प्रीति के लिए अपनी सिद्धियों के बल पर त्रैलोक्य के सुख का भी उपभोग किया।

'यही कारण है कि आज मुझे यह समझना कठिन हो रहा है कि जो आपके लिए अब तक स्वीकार था, वह आगे भारस्वरूप कैसे हो जायेगा? और वास्तव में यदि वह भार ही है, तो वह सबके लिए, मेरे लिए भी भार ही होगा।

'अतः मेरी प्रार्थना है कि जिस प्रकार आप अब तक हमारा समाधान करते आए हैं, कृपा कर इस जिज्ञासा का भी समाधान करें।'

कात्यायनी ने देखा कि ऋषिराज और उनकी विदुषी प्रिया के शास्त्रार्थ का प्रसंग उपस्थित हो गया है। आगे उसे यह अनुमान कर पाना निश्चित ही कठिन है कि उसके उपसंहार में और कितना समय लगेगा। आज वैसे भी प्रातःकालीन साधना से ऋषि के उठने के अस्वाभाविक विलम्ब को देखते हुए आश्रमवासी विस्मित होंगे। विशेषकर उसके अपने स्थान पर न होने के कारण आश्रम-व्यवस्था को लेकर सभी जहाँ-तहाँ किंकर्त्तव्यविमूढ़ बने बैठे होंगे। अतः इस समय तो उसे ऋषि से आज्ञा लेकर उठना ही होगा।

याज्ञवल्क्य को कात्यायनी की कार्य-चिन्ता की प्रतीति है। साथ ही उन्हें मैत्रेयी के समाधान के लिए निश्चित समय की आवश्यकता है। अतः उन्होंने कात्यायनी को अपनी इच्छानुसार आश्रम-कार्यों से निवृत्त हो जाने के लिए कहा—

मैत्रेयी है मौन, जड़वत्। ऋषि उसे सम्बोधित कर रहे हैं—

'देवि मैत्रेयी, तुमने स्वयं ही अनेक धर्मसभाओं में व्याख्यान देकर जिन प्रश्नों का समाधान किया है, उनके उत्तर मुझसे माँग कर अपने श्रद्धा भाव को ही तो प्रगाढ़ कर रही हो। इसका उत्तर देते हुए स्वभावतः मेरी भूमिका एक गृहस्थ से भिन्न हो जाती है।'

'वास्तव में मैंने आज जिस संन्यासी की बात की है, वह कोई पारंपरिक संन्यास मात्र नहीं है। अतः परिव्राजक बनकर भिक्षाटन या शिखा-सूत्र का परित्याग या काषाय वस्त्र धारण कर लेना ही मेरा मन्तव्य नहीं है। यद्यपि सभी भौतिक पदार्थों का परित्याग कर आसक्ति रहित होना इसका एक आवश्यक उपादान है, किन्तु यदि त्याग या त्याग के अभिमान में ही कहीं मैं बँध गया तो सच्चा संन्यास कहाँ हुआ?'

'और मैत्रेयी, तुम यह भी जानती हो कि वास्तव में मनुष्य संपूर्ण रूप से त्यागी हो भी कैसे सकता है? वास्तव में यदि वह कुछ छोड़ रहा है तो निश्चित है कि वह उसे छोड़ रहा है जो निर्मूल्य है विशेषकर उसकी तुलना में जो उसे वह प्राप्त हो सकता है, जो उसका प्राप्तव्य है। वह असार को सार के लिए, नाशवान को अविनाशी के लिए तथा मृत्यु को अमृत के लिए ही तो छोड़ेगा।'

मैत्रेयी चैतन्य थी। ऋषि के इस सम्बोधन ने उसे अपने टूटे सूत्र को जोड़ने में सहायता कर दी थी। उसने कहा—

'ऋषिवर, आपने कात्यायनी बहिन की बराबरी का सम्पत्ति का भाग मुझे देकर अपनी दोनों पत्नियों के बीच समदर्शिता तो प्रकट की है, किन्तु मेरी आवश्यकता के मान से तो यह कुछ भी नहीं है। मेरा निवदेन है कि आपने मुझसे जिस सीमा तक प्रेम किया है, उसके अनुपात में मुझे कुछ महत्तर सम्पत्ति प्रदान करें ताकि मैं भी आपके संकल्प-साधन में आपकी सहायक बन सकूँ।'

'मैत्रेयी, तुम जानती हो संसार के पदार्थों के प्रति हमारा स्वामित्व का ही तो भाव है जो उन्हें हमारा बनाता है। यदि तुमने इस भाव के रहस्य को समझ लिया तो पदार्थ तो तुम्हारे होकर भी तुम्हारे नहीं हैं और इसी धारणा से दूसरी ओर संसार का सारा वैभव भी तुम्हारा न होकर तुम्हारा ही तो है।' याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी का समाधान करना चाहा।

किन्तु मैत्रेयी अपने सूत्र के संधान में अब काफी चल चुकी थी।

'भगवन्', उसने पुनः प्रश्न किया, 'यदि मैं अतुल सम्पदा सहित इस सारी पृथ्वी की ही स्वामिनी बन गई तो क्या मैं अमृतत्त्व प्राप्त कर लूँगी?'

'नहीं, नहीं।' ऋषि ने दृढ़तापूर्वक कहा, 'उस स्थिति में तुम्हारा जीवन एक सम्पन्न व्यक्ति की तरह व्यतीत होगा, किन्तु इससे अमृतत्त्व प्राप्त हो सकने के किसी अवसर के आने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।'

'जो सम्पत्ति मुझे अमरता नहीं देती,' मैत्रेयी ने अपने निर्णय की संपूर्ण सामर्थ्य को समेटते हुए कहा, 'उसका मैं क्या करूँगी? महाराज, मेरी प्रार्थना है कि आप अपने आश्रम की संपूर्ण सम्पत्ति देवी कात्यायनी को ही सौंप दें और मुझे ऐसा उपदेश करें जो जीवन को मृत्यु के पार ले जा सके।'

'तुम निश्चय ही मेरे निष्कल प्रेम की पात्र हो मैत्रेयी,' याज्ञवल्क्य ने अतिशय प्रसन्न होते हुए कहा। 'आओ' मेरे निकट बैठो। मैं तुम्हें जीवन के वास्तविक और चिरस्थायी पक्ष को समझाने की चेष्टा करता हूँ। आगे मेरी बात को बहुत ध्यान से सुनना।

'एक पत्नी अपने पति को उसके पति होने के कारण प्रेम नहीं करती है।' वरन् स्वतः के लिए करती है। एक पति अपनी पत्नी को उसके पत्नी होने के कारण प्रेम नहीं करता है, वरन् अपने लिए करता है। माता-पिता अपने पुत्रों को पुत्र होने के कारण नहीं वरन् अपने लिए प्रेम करते हैं।

'मैत्रेयी, जब मैं कहता हूँ कि ये सभी अति निकटस्थ और अत्यधिक प्रिय स्वतः के लिए प्रिय होते हैं तो तुम्हें अपने में, अपनी आत्मा में उस विराट् को पहचानने की आवश्यकता है जिससे पृथक् कर कुछ देखा ही नहीं जा सकता। तुम इसे इस प्रकार भी समझो कि धन भी धन के लिए प्रिय नहीं होता, वह मात्र धन होने के कारण हमें प्रिय नहीं है, वास्तव में वह हमें अपना आप प्रिय होने के कारण प्रिय है। इसी तरह चाहे यह संसार हो, स्वर्ग हो, संसार के मूल तत्त्व हों, ज्ञान हो या विज्ञान हो, ये सभी पदार्थ वस्तुरूप में हमें प्रिय नहीं होते वरन् हमारी आत्मसत्ता की विराटता के अंग होने के कारण हमें प्रिय हैं। हमारी समस्त बहिर्मुखी प्रतीत हो रही कामनायें हमारे भ्रान्तिमूलक अनुभव हैं। यदि ये बाहरी पदार्थ अथवा व्यक्ति हमें प्रिय प्रतीत होते हैं तो इसका कारण है कि हमारे आन्तरिक प्रेम का स्रोत बहिर्मुखी हो गया है। हमें इस आनन्द के मूल

स्रोत का निकट से अन्वीक्षण करने की आवश्यकता है। इसे विद्वान् और शास्त्रों के सहारे समझने तथा विज्ञान के द्वारा अनुभव करने की आवश्यकता है।'

मैत्रेयी सोच रही है कि ऐसे कितने अन्य अर्द्ध और भासमान सत्य नहीं हैं, जिनकी स्वीकृति और समर्थन में हम एक ही नहीं, अनेक जीवन शृंखलायें समाप्त कर रहे हैं। यह वैयक्तिक सम्बन्धों के धरातल की बात हुई। क्या हमारे सामाजिक सरोकार भी इसी प्रकार सिमटते हैं?

'मैत्रेयी, ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा कोई भी व्यक्ति उसके समाज द्वारा परित्याग किए जाने योग्य है, जो अपने आपको आत्मतत्त्व से पृथक् मानता है। वास्तव में अपने आपको आत्मा से पृथक् मानने वाले व्यक्ति का दुनिया को भी परित्याग कर देना चाहिए। ऐसा मनुष्य देवताओं द्वारा भी त्याज्य है जो अपने आपको आत्मा से पृथक् देखता है। वास्तव में चाहे यह सृष्टि हो अथवा सृष्टि का कोई भी तत्त्व, वह चूँकि आत्मतत्त्व से अपृथक् है, अत: कोई भी इस तत्व से अपनी सत्ता को पृथक् मान कर अपने स्वयं के ही अस्तित्व को नकार देता है।'

मैत्रेयी पुनः सोच रही है कि जो अपने आपको ही अस्वीकार है, वह अन्य के लिए कैसे स्वीकार्य हो सकता है? हमारे अस्तित्व की सारवत्ता का यह वास्तविक ज्ञान न होने से मनुष्य अपनी सर्वथा अभेद स्थिति में भी कितनी दूर छिटक जाता है। क्या यही उसका वास्तविक दैन्य या कातरावस्था नहीं है?

'मैत्रेयी, मुझे सुन रही हो न?' याज्ञवल्क्य ने अपना कथन जारी रखा, 'एक उदाहरण से मेरी बात को ठीक से और समझो। जब कोई मृदंग बजाता है तो उससे निकलने वाले भिन्न-भिन्न स्वर और ताल उसकी मूल ध्वनि में ही समाविष्ट होते हैं। इन स्वरों की इस मूल ध्वनि से पृथक् कोई सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार मनुष्य की शुद्ध ज्ञानमयी आत्मचेतना से भिन्न अन्य किसी तत्त्व या चेतना के अस्तित्व का प्रश्न नहीं उठता।'

ऋषि ने यह सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। ऐसे तो कुछ और दृष्टांत भी हो सकते हैं।

'हाँ मैत्रेयी, जब एक शंख अथवा वीणा बजाई जाती है, तो उससे निकलने वाले भिन्न-भिन्न स्वर भले ही पृथक् प्रतीत होते हों, किन्तु वे इन यंत्रों की मूल ध्वनि में ही समाविष्ट हैं। इसी तरह जगत् के अनेक नाम, रूप कितना ही भिन्न क्यों प्रतीत न हों, अपने मूल में वे एक ही तत्त्व रूप हैं।'

यह ज्ञान जो ऋषि प्रकट कर रहे हैं, मैत्रेयी सोचती है, इसका भी तो कोई स्रोत होगा? क्या यह वह शुद्ध और परम तत्त्व से पृथक् है? और वेद जिन्हें अपौरुषेय मानते आये हैं, इस विराट् के निश्वास रूप में भी जाने जाते हैं, उनके द्वारा तो परमात्मा का बोध होता है। उन्हें परमात्मा से किस रूप में अभिन्न देखा जा सकता है?

'मैत्रेयी', जिस प्रकार गीले काठ से धुआँ निकलता है, उसी प्रकार समस्त वेद, ऋक्, साम, यजुः, अथर्व तथा इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मंत्र और अर्थबोध आदि सभी उस एक महत्तत्व के निश्वास हैं। यह निश्वास या धुयें के नाम और रूप का पृथक् अस्तित्व मूल अग्नि तत्त्व की सत्ता की एक अभिव्यक्ति मात्र है, मूल में तो परमात्मा रूप अग्नि तत्त्व की ही प्रतिष्ठा है।

'प्रश्न उठता है कि स्थूल और सूक्ष्म की यह दूरी कितनी है? इतने भिन्न प्रकट रूप और आकार किस तरह विलीन हो जाते हैं?

'इसे तुम इस प्रकार समझो मैत्रेयी। जिस प्रकार समस्त जलों का प्रवाह समुद्र में पहुँचकर विलीन हो जाता है, उसी प्रकार समस्त स्पर्श त्वचा में, गंध नासिका में, रस जिह्वा में, रूप चक्षु में, शब्द श्रोत्र में, संकल्प मन में तथा समस्त कर्म कर्मेन्द्रिय स्थान में लीन हो जाते हैं।

'क्या तुमने नमक के एक कण को पानी में लीन होते नहीं देखा है? क्या इस विलीनीकरण के बाद इन दोनों को तुम पृथक् देख पाती हो? सृष्टि के ब्रह्म में लीन और लय होने की प्रक्रिया का इस उदाहरण से तुम कुछ अनुमान कर सकती हो? वास्तव में सृष्टि विस्तार के समस्त उपादान चाहे वे पदार्थ हों अथवा जीव, परमात्म तत्व में इसी प्रकार एकाकार होकर सृष्टि संरचना में मूलभूत एकता का प्रतिपादन कर रहे हैं। शुद्ध और पारमार्थिक ज्ञान तो प्रत्येक ज्ञानी पुरुष द्वारा अपनी व्यक्तिगत इकाई की प्रकट सत्ता के इस नमक को परमात्मारूपी समुद्र में घोल देना ही है। इस प्रकार जब एक मनुष्य परम सत्ता में लीन और लय होता है तो उसके शरीर अथवा इन्द्रियों का अस्तित्व भी अर्थहीन हो जाता है।'

ऋषि को लगा कि यहाँ आकर मैत्रेयी कुछ पूछने के लिए सर्वथा व्यग्र है। मैत्रेयी ने भी अनुमान किया कि अब तक सर्वज्ञ ऋषि उसके बिना पूछे ही उसके प्रश्नों का उत्तर देते जा रहे थे। जैसे उनमें से किसी के लिए भी यह कोई संलाप न होकर जीवंत वार्तालाप था, किन्तु यदि मैत्रेयी ऋषि के प्रकट ज्ञान की तात्कालिक अनुभूति के धरातल पर पहुँच गई तो उसके पीछे कोई है (और कदाचित् उसे भी पीछे लौटना पड़े) तो कुछ टिप्पणी तो उपलब्ध होनी चाहिए। अस्तु, अब उसे बोलना ही होगा।

'भगवन्, यहाँ कुछ दुविधा-सी उत्पन्न हो गई है। एक ओर आपने कहा है कि ब्रह्म इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है, किन्तु आप यह भी कह रहे हैं कि ब्रह्मवेत्ता न केवल इन्द्रिय शून्य हो जाता है, वरन् उसकी कोई चेतना या संज्ञा भी नहीं रहती। क्या यह आश्चर्य नहीं कि किसी विशेष संज्ञाशून्य व्यक्ति को भी साक्षात्कार हो सकता है?'

'मैत्रेयी मैंने, इन दो स्थितियों का वर्णन तुम्हें विस्मित करने के लिए न कर उनका वास्तविक परिज्ञान कराने के लिए किया है। मनुष्य का प्रत्येक अनुभव और अनुभवकर्त्ता तभी तक पृथक् है जब तक उसे इनके वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। देखने, सुनने, सूँघने, छूने और स्वाद लेने आदि से सम्बन्धित हमारा इन्द्रिय बोध

उस समय एकदम समाप्त हो जाता है जब उसे सर्वभूत मय आत्मरूप की अनुभूति हो जाती है। अतः जब आत्मा द्वारा आत्मा के बोध का प्रसंग उठेगा तब कौन किसको देखेगा और कौन किसको सुनेगा?

'स्वच्छ जल में सूर्य अथवा चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब प्रतिच्छाया ही तो है, कोई वास्तविकता नहीं। एक धवल स्फटिक में लाल मणि का प्रतिबिम्ब केवल एक प्रतीति है, अस्तित्व नहीं, क्योंकि सूर्य, चन्द्र अथवा मणि के हट जाने पर ये प्रतिबिम्ब भी विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार से संसार के समस्त पदार्थ, प्राणी और जीवसत्तायें अज्ञान या अवास्तविकता के माध्यमों के हट जाने के बाद अपना अपृथकत्व खो देती हैं। उस अवस्था में अनुभव, अनुभोक्ता तथा अनुभव की क्रिया के रूप में केवल एक ही तत्त्व परमात्मा शेष रहता है।'

'यदि तुमने कोई नाम और उपाधि धारण को हुई है तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि इसके पूर्व की तुम्हारी कोई अवस्था नहीं है। वास्तव में अब तक का एक रूप, आकार, जन्म और मृत्यु तुम्हारा अपना स्वीकार है, जो तुम्हारे द्वैत बोध (जो वस्तुतः अज्ञान ही है) के कारण उत्पन्न हुआ है। इस ज्ञान और अज्ञान में से एक का चुनाव तुम्हारी अपनी सामर्थ्य में है। जब तक तुम्हें स्वीकार है कि तुम एक शरीर हो, मन हो, इन्द्रिय हो, संसार है, और संसार के राग, द्वेष, जन्म और मृत्यु आदि के अनुभव हैं, तब तक वे सब हैं, किन्तु जब तुम्हें यह प्रतीति हो जायेगी कि तुम शुद्ध, शाश्वत और अविनाशी आत्मा हो तथा यह आत्मा और परमात्मा अभिन्न है, तब अनुभव, दर्शन और ज्ञान की त्रयी (ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान) आदि का भी संविलय हो जाता है।'

'द्वैत का अनुभव इतना वास्तविक और प्रगाढ़ है', मैत्रेयी ने पुनः कहा, 'कि इसका इस प्रकार समापन अथवा संविलयन कैसे होता है, बहुत स्पष्ट नहीं होता। ऋषिवर्य, द्वैत की यह प्रतीति तो वर्तमान और एक ही जीवन की न होकर अनेक जीवन के संस्कारों की शृंखला होती है। अतः इसे एक ही जीवन के एक ही अनुभव द्वारा कैसे प्राप्त किया जा सकता है?'

'मैत्रेयी, प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन इस अनुभव से सामान्य रूप से गुजरता है, किन्तु यह उसकी प्रतीति बन कर ठहर नहीं पाता। और विडम्बना यह है कि इसी प्रकार से जन्म-जन्मान्तरों की शृंखलायें भी बन जाती हैं, किन्तु वह एक कृत्रिम भेद की अवस्था में ही पड़ा रहता है। मनुष्य प्रत्येक दिन निद्राकाल में इस अनुभव से गुजरता है कि वह उन समस्त अनुभवों से बिल्कुल भिन्न भी हो सकता है, जो उसकी जाग्रत् अवस्था के उसके विशेष व्यक्तित्व के परिचायक थे। उसका यह विशेष अनुभव और चेतना प्रत्येक दिन विलुप्त होती है। ऐसा अनुभव सिद्ध अथवा ज्ञानी का ही नहीं, प्रत्येक सामान्य मनुष्य का होता है। अतः यह तो निश्चित ही है कि एक ब्रह्मज्ञानी जो शरीर, मन अथवा इन्द्रिय की चेतना से ऊपर उठ चुका है वह किसी एक अथवा किसी विशेष चेतना का प्रतीक न होकर अनन्त और अक्षय चेतना का स्वतः केन्द्र बन जाता है। उसे किसी का

पुत्र, किसी का पति, किसी का स्वामी अथवा किसी सुख से सुखी या दुख से दुखी होने का कारण और आधार ही शेष नहीं रहता।'

मैत्रेयी सोचती है कि अद्वैत ज्ञान की तुलना में तो अनुभव ही अधिक हुआ, किन्तु तब ब्रह्मज्ञान जैसे विशेषणों की क्या अर्थवत्ता हुई? और क्या इस प्रकार के अनुभव के लिए ज्ञान की पूर्वापेक्षा भी है?

'यह सत्य है मैत्रेयी', याज्ञवल्क्य कह रहे हैं, 'कि ज्ञान का अपने शिखर में पहुँचकर तादात्मीकरण हो जाता है। यह अवस्था अद्वैत की ही है। यहाँ पहुँचकर ज्ञान और अनुभव दोनों ही पीछे छूट जाते हैं। अद्वैत की अवस्था को प्रकट करने के लिए इन शब्दों की अर्थवत्ता सीमित ही है।

'एक ब्रह्मज्ञानी, जिसके लिए समस्त सृष्टि व्यापार उसकी चिदात्मा है, देखने, सूँघने और सुनने आदि के इन्द्रियानुभव किसके लिए, कैसे और किसके द्वारा करेगा?

'तुमने ज्ञान की पूर्वापेक्षा की शंका उठाई है। ईश्वर तो सर्वज्ञाता है न। क्या कोई इस सर्वज्ञाता को भी जान सकता है? ऐसा संभव होने पर ईश्वर सर्वज्ञाता कैसे रह सकेगा? इस सर्वज्ञाता को कोई कैसे जान सकेगा? किसके द्वारा जाना जा सकेगा वह? क्या सर्वज्ञाता भी जानने योग्य है? इस प्रक्रिया में कर्ता, कर्म और क्रिया कहाँ हैं? मैत्रेयी, यदि किसी ने सर्वज्ञाता को जाना तब तो जानने वाले को भी जाना जा सकेगा? क्या ऐसा ज्ञान संपूर्ण हो सकता है? क्या अग्नि अपने आपको कभी भस्म कर सकती है? अपने आपको चिदात्म रूप में जान पाना तो इसी प्रकार का अन्तर्विरोध ही है न? मैत्रेयी, संक्षेप में यही समझो कि ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। जब वह ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म हो गया तो यह अनुभव और यह ज्ञान भी उससे कैसे पृथक् कर सकोगी तुम?'

क्या अब भी मैत्रेयी को कुछ जानने के लिए शेष है? क्या प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता दो हैं यहाँ? और क्या उन्हें उनके कथ्य और श्रुत से पृथक् किया जा सकता है?

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जिसे वाणी मन के साथ चलकर प्राप्त न करके लौट आती है, उसे वह शब्दों में कैसे प्रकट करे! एक अशब्द के महाघोष को वह कौन-सी भाषा दे?

कात्यायनी आश्रम-कार्यों से निवृत्त होकर लौट आई है। एक साथ बिछे दो कृष्ण मृगचर्मों पर बैठे मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के सामने स्थिर खड़ी वह यह अनुमान कर सकती है कि उनकी यह प्रस्थान की मुद्रा नहीं है। किसी वृत्त का अंत इस प्रकार का एक बिन्दु होगा, उसका निर्णय भी तो वह नहीं कर सकती है।

❖